पत्रकारिता के अनुभव

उपज़ न छोड़े इसलिए बड़े दयावान करूणा ओ गु… सबके कल्यान
से अैसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाटठाटा जो कोई प्रशस्त लोग इस खबे
…ी गली 37 अंक मार्तण्ड छापाघर में अपना नाम ओ ठिकाना भेजने ही से सतवारे… यहां के रहने
…ंक पर कागज पाया करेंगे इसका मोल महीने में दो रूपया… जो डाक के महसूल की तेहाई लिई जायगी
पनौती कर देनी होयगी काहे से कि महीने महीने के अन्तर रूपये भर प… की रसीद भेजने में
…ता खरच बैठेगा। …

मुकुट बिहारी वर्मा

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ग्रन्

पत्रकारिता के अनुभव

लेखक
श्री मुकुट बिहारी वर्मा
भूतपूर्व संपादक 'हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (पत्रकारिता प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (पत्रकारिता प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

■

पत्रकारिता के अनुभव
प्रथम संस्करण : १९७७
मूल्य : छह रुपये

■

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी–१

निवेदन

३० मई, १८२६ को कलकत्ते से हिन्दी का प्रथम साप्ताहिक पत्र 'उदन्त-मार्तण्ड' प्रकाशित हुआ। वह पत्र तो दीर्घजीवी नहीं हुआ पर उसने अभिव्यक्ति का जो नया पथ संधान किया था वह बराबर प्रशस्त होता गया। उस पत्र के प्रकाशक-संपादक श्री युगलकिशोर शुक्ल ने विरोधी स्थिति में भी जन-सामान्य के लाभ के लिए जो माध्यम चुना था वह आगे चलकर स्वतंत्रता संग्राम का प्रमुख अस्त्र बन गया।

३० जून, १९७६ को पूरे देश में हिन्दी पत्रकारिता के १५० वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में समारोह आयोजित हुए। इन समारोहों में हिन्दी के पत्रकारों ने पत्रकारिता के १५० वर्षों के इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए उन मूल्यों की चर्चा भी की जिनकी रक्षा के लिए हिन्दी पत्रकारिता सदैव संघर्ष करती रही।

३० मई, १९७७ को हिन्दी पत्रकारिता वर्ष के समापन के अवसर पर उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान के पत्रकारिता प्रभाग द्वारा प्रकाशित, श्री मुकुट बिहारी वर्मा लिखित 'पत्रकारिता के अनुभव' को देश के नये पत्रकारों को समर्पित करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। विश्वास है कि यह पुस्तक पत्रकारिता के विकास में रुचि रखने वाले लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

३० मई, १९७७

ठाकुरप्रसाद सिंह
निदेशक
उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान

दो शब्द

श्री मुकुट विहारी वर्मा से मेरा परिचय सन् १९४४ में हुआ, जब वे कलकत्ते के हिन्दी पत्रकार सम्मेलन से लौटते हुए, मेरे बड़े भाई श्री कमलनाथ अग्रवाल के साथ, काशी में मेरे घर रुके। मैं उन दिनों 'संसार' दैनिक व साप्ताहिक में संयुक्त सम्पादक था। मुकुटजी देखने में बिल्कुल लड़कौंधे लगते थे। यह जानकर कि वे दिल्ली के दैनिक 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक हैं, आश्चर्य हुआ। तब से यह परिचय प्रगाढ़ होता गया। अपने दिल्ली प्रवास में मुझे उन्हें काफी करीब से देखने का मौका मिला। वे सादगी, ईमानदारी और विनम्रता की प्रतिमूर्ति हैं। उनके ५० वर्ष के पत्रकार जीवन में हिन्दी पत्रकारिता के शैशव से परिपूर्ण यौवन तक की कहानी छिपी हुई है।

यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने अपने पत्रकार जीवन के संस्मरणों को लिपि-बद्ध किया है। इनमें उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दिल्ली और राजस्थान के हिन्दी पत्रों, पत्रकारों और राष्ट्रकर्मियों की दुर्लभ झाँकियाँ मिलती हैं। उनके ये संस्मरण हिन्दी पत्रकारिता के अध्येताओं के लिए बहुमूल्य हैं। अपने दिल्ली प्रवास काल में मैंने इन्हें देखा था और तब से इनके प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील था। सौभाग्य से लखनऊ आकर मेरा यह प्रयत्न सफल हुआ। इसका श्रेय उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री श्री नारायण दत्त तिवारी को है, जिनके उत्साह के कारण यहाँ 'उदन्त मार्तण्ड' के प्रकाशन के डेढ़ सौ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में बड़ा समारोह हुआ, जिसमें श्री मुकुट बिहारी वर्मा तथा उनके समान पत्रकारिता की दीर्घ काल तक विशिष्ट सेवा करने वाले पत्रकारों का सम्मान हुआ।

इसी समारोह के अंग के रूप में उनके संस्मरणों के प्रकाशन का प्रस्ताव स्वीकार हुआ। इसी समय प्रदेश में हिन्दी संस्थान की स्थापना की भी घोषणा हुई और उसके अंतर्गत पत्रकारिता प्रभाग भी स्थापित होने का निश्चय हुआ। इस पुस्तक का प्रकाशन इसी अनुष्ठान का अंग है। इस अनुष्ठान में श्री ठाकुरप्रसाद सिंह का योगदान अन्यतम रहा है। इस पुस्तक के बाद अगला प्रकाशन श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के सम्पादकीय लेखों का संकलन होगा।

हिन्दी संस्थान ने हिन्दी पत्रकारिता का बृहत् इतिहास लिखाने की भी योजना बनायी है, जिसका भार पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने उठाना स्वीकार किया है। आशा है हिन्दी संस्थान के द्वारा हिन्दी पत्रकारिता विषयक अन्य पुस्तकें भी इसी प्रकार प्रकाशित होंगी।

लखनऊ

—अशोकजी

विषय-सूची

१. पत्रकार कैसे बना ?	१
२. पत्रकारिता का अभ्यास	६
३. 'आज' और श्रीप्रकाशजी	११
४. 'प्रताप' और गणेशजी	१७
५. 'तरुण राजस्थान' और 'स्वदेश'	२२
अविस्मरणीय यात्रा	२९
६. बम्बई के खट्टे मीठे अनुभव	३४
७. पत्रकार जीवन में नया मोड़	४०
८. सम्पादन का विस्तार	४७
९. सन् ३० का आंदोलन	५२
१०. भारत की राजधानी में	५९
११. 'अर्जुन' के तीन साल	६३
१२. 'अर्जुन' से 'हिन्दुस्तान' में	७०
१३. 'हिन्दुस्तान' का आरंभ	७६
१४. पाँच साल में स्थानापन्न सम्पादक	८३
१५. 'हिन्दुस्तान' की रीति-नीति	८८
१६. जिम्मेदारी की परेशानियाँ	९५
१७. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का सम्पादन	१०२
१८. कसौटी के अवसर	११०

१ पत्रकार कैसे बना ?

पत्रकारिता सम्बन्धी एक छोटी पुस्तक (प्रैक्टिकल जर्नलिज़्म) में मैंने पढ़ा था कि पत्रकार गढ़ा नहीं जाता, वह जन्मजात होता है। मैं नहीं जानता कि यह बात मेरे सम्बन्ध में कहाँ तक लागू होती है। न महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह यह कहने की हिम्मत ही मैं कर सकता हूँ कि कोई विश्वविद्यालय मेरे निर्माण का दावा नहीं कर सकता। विनम्रता के साथ मैं सिर्फ कह सकता हूँ कि बाल्यकाल में भावी जीवन की कल्पना करते हुए मुझको पत्रकारिता का कभी ध्यान नहीं आया था। 'कठिनाई में विद्याभ्यास' और 'स्वावलम्बन' जैसी पुस्तकें पढ़कर यह कल्पना जरूर हुई थी कि अपने बूते ही पढ़ाई और उन्नति करनी चाहिए, जिसका रास्ता उस वक्त यही दिखाई दिया कि मैट्रिक करके स्कूल में अध्यापक बना जाय और फिर साथ-साथ पढ़ाई करते हुए डिग्रियाँ प्राप्त कर आगे बढ़ा जाय।

इसके आसार भी नज़र आये, जब मध्य भारत के नरसिंहगढ़ राज्य को वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा (१९१८) में सर्वप्रथम आकर मैं हाई स्कूल के वरिष्ठ अध्यापकों की नज़र में चढ़ा और राज्य से वहाँ पढ़ने के लिए कुछ वजीफा भी मंजूर हुआ।

लेकिन मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ और। खुजनेर से, जहाँ मैं उस समय रहता था, नरसिंहगढ़ जाने के लिए जब बैलगाड़ी में सामान लद गया और मैं रवाना होने को हुआ, हमारे वयोवृद्ध नानाजी की इस ममतामयी चिन्ता ने मामला ही पलट दिया कि मैं वहाँ अकेला कैसे रहूँगा। फलतः सामान उतर गया और मेरा नरसिंहगढ़ जाना रुक गया।

इसके बाद वहीं खुजनेर में निजी तौर पर अंग्रेजी की कुछ पढ़ाई की और अमृतसर-कांग्रेस के बाद जबलपुर से साप्ताहिक 'कर्मवीर' (१९२०) निकलने पर जब हमारे मामा स्व० शंकरलालजी वर्मा उसमें सहायक सम्पादक होकर गये तो उनके पास रहकर अंग्रेजी पढ़ाई करने का निश्चय हुआ। लेकिन जब मैं वहाँ पहुँचा, असहयोग आन्दोलन का बोलबाला था। स्कूल-कालेजों में जो लड़के थे उन्हों से वे छुड़ाये जा रहे थे। ऐसी हालत में एक दिन श्री मातादीन शुक्ल (अब स्वर्गीय) के साथ, जो 'कर्मवीर' में काम करते थे और हितकारिणी हाई स्कूल में अध्यापक भी थे, स्कूल गया जरूर, पर वहाँ भर्ती नहीं हुआ और भविष्य एकदम अनिश्चित हो गया।

यह तो कुछ संयोग ही कहना चाहिए कि स्वावलम्बन और स्वाध्याय की वृत्ति पैदा हो जाने के कारण अंग्रेजी सीखना जारी रखा। भाग्यवश आगरकरजी (स्व० सिद्धनाथ माधव आगरकर) इसी समय 'कर्मवीर' में सहायक सम्पादक होकर आये। वह ग्वालियर राज्य के मिडिल स्कूल की हेडमास्टरी छोड़कर आये थे, इसलिए विद्यार्थियों में उनकी रुचि थी और चूँकि मैं भी मध्य भारत से आया था इसलिए मेरे प्रति अपनेपन की भावना भी उनमें थी। फलतः उनसे मैं कुछ पढ़ने लगा।

नियमित पढ़ाई तो वह नहीं थी, पर व्यावहारिक पढ़ाई उसे कह सकते हैं। किताबों तक वह सीमित न थी, अखबारों का भी उपयोग किया गया। अंग्रेजी के दैनिक पत्र पढता और उन्हीं दिनों हिन्दी में भी स्टैण्डर्ड के साथ निकले दैनिक 'आज' और 'स्वतन्त्र' अखबारों को पढ़-पढ़कर अंग्रेजी समझने का अभ्यास करता।

वातावरण 'कर्मवीर' का घरेलू था। माखनलालजी चतुर्वेदी, माधवरावजी सप्रे, लक्ष्मणसिंह चौहान और मामा शंकरलालजी के अहर्निश सान्निध्य में 'कर्मवीर' का सारा काम मेरी नजरों से गुजरता। जो कुछ मैं कर सकता वह मैं भी करता; जैसे माखनलाल-जी या सप्रेजी ने बोलकर कुछ लिखाया, अथवा ग्राहकों के पते लिखने की जरूरत हुई या अखबारों की फाइलें रखने, अथवा पत्र-व्यवहार की। यों सीखने का अवसर मिलता। आगरकरजी के आ जाने पर वह डाक से आये संवादों का संक्षिप्तीकरण, संशोधन आदि भी कराने लगे। भाषा शायद मेरी ठीक थी, इसलिए अपना लिखा भी वह उत्साह-वर्द्धनार्थ मुझे दे देते जिससे उसमें मराठीपन हो तो दूर कर दूँ। सप्रेजी के द्वारा 'महा-भारत-मीमांसा' का मराठी से हिन्दी का अनुवाद भी उन दिनों संशोधित हो रहा था, जो संभवतः श्री शालिग्राम द्विवेदी का किया हुआ था। सप्रेजी की देखरेख में उसके संशोधन का भी कुछ अवसर मिला।

यही पत्रकारिता में मेरे प्रवेश का कारण हुआ। और इसे बल मिला माखनलालजी द्वारा अचानक मेरे 'सम्पादकजी' नामकरण से।

इसका भी एक किस्सा है। वह इस प्रकार कि उन दिनों ग्राहकों के पते न छपे हुए होते थे, न टाइप किये हुए; हर सप्ताह हाथ से लिखे जाते थे और कोई चार व्यक्ति इसी काम पर तैनात थे, फिर भी वक्त पर पूरे लिखे नहीं जा सकते थे। एक बार मुझे जोश आया। मैंने कहा, 'इसमें क्या है, लाओ मैं लिखे डालता हूँ।' और सुबह से मैं उनके लिखने में लग गया। संयोगवश यह वह दिन था जब पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय जबलपुर स्टेशन से गुजर रहे थे। माखनलालजी उनसे मिलने स्टेशन गये थे, जहाँ से दोपहर को श्री हृषीकेश शर्मा के साथ वापस आये। उस वक्त भी मैं बिना उठे पते पूरे करने में जुटा हुआ था, जिससे सम्भवतः माखनलालजी प्रभावित हुए और एकाएक उनके मुँह से निकला—'ओहो ! सम्पादकजी अभी तक जुटे हुए हैं।''

मानो यह आगे चलकर मेरे सम्पादक होने का आशीर्वाद था, या कहें कि उनकी भविष्यवाणी थी जो आगे जाकर पूरी हुई। मेरे लिए तो यह घटना उत्साहवर्द्धक और याद रखने वाली थी ही, पर मुझे आश्चर्य हुआ कि कालान्तर में हरिद्वार में हुए हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए भी उन्हें यह बात याद रही। उस समय मैं राजधानी के प्रमुख पत्र 'हिन्दुस्तान' का संपादक था। अपने अध्यक्षीय भाषण में तो उन्होंने मेरे सम्पादकत्व की सराहना की ही; हरिद्वार से लौटते हुए अपनी रचना 'हिमतरंगिणी' मुझे दी तो उसमें भी अपने हस्ताक्षरों से लिखा—"बचपन के मेरे 'सम्पादकजी' को सस्नेह।"

'कर्मवीर' उस समय जबलपुर से निकलता था और समूचे मध्य प्रदेश के साहित्य और राजनीति का केन्द्र बना हुआ था। सभी प्रमुख साहित्यिक और राजनीतिज्ञ माखन-लालजी या माधवरावजी (सप्रे) के पास आते रहते थे। साहित्य और राजनीति की खूब चर्चा होती, जिसे सुनकर कुछ सीखने का मुझे भी अवसर मिलता। देश के अधि-कांश हिन्दी पत्रों को भी सर्वप्रथम यहीं मैंने देखा-पढ़ा।

सुप्रसिद्ध वैयाकरण पं० कामता प्रसाद गुरु का व्याकरण जो प्रकाशन से पहले सप्रेजी के सम्मत्यर्थ आया हुआ था, वह तो मैंने पढ़ा ही, स्वयं गुरुजी को भी निकट से देखने और व्याकरण सम्बन्धी कई दुविधाओं पर उनके विचार सुनने का सौभाग्य हुआ। सेठ गोविन्ददासजी राजसी ठाठबाट से शानदार बग्घी में बैठकर सप्रेजी के पास आया करते थे, वह दृश्य भी याद है। सद्यःप्रकाशित 'श्री शारदा' के सम्पादक पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र भी अक्सर वहाँ आते थे। बाद में चाणक्य और लौहपुरुष के रूप में विख्यात पं० द्वारका प्रसाद मिश्र को भी वहीं देखा-सुना, जो अपनी पढ़ाई के बाद संभवतः सेठ गोविन्ददासजी के प्राइवेट सेक्रेटरी होकर आये थे और 'श्री शारदा' के संपादकीय कार्य में भी योग देते थे।

और भी साहित्यिक और राजनीतिज्ञ वहाँ आते रहते थे, पर श्री सुकुमार चटर्जी और मनोहर कृष्ण गोलवलकरजी ने मुझे बहुत प्रभावित किया। गोलवलकरजी वकील थे और प्रान्तीय असेम्बली के सदस्य भी थे। उनके मधुर भाषण और हिन्दी के प्रति उनके ममत्वभाव की मुझ पर अच्छी छाप पड़ी। वह कहते—हिन्दी हमारी मौसी है और मौसी का प्रेम निश्चय ही माता से कम नहीं होता। सुकुमार चटर्जी कुछ समय पूर्व ही अमरीका से आये थे, जहाँ बचपन में ही वह किसी तरह चले गये थे और वहीं पढ़-पढ़ाकर पत्रकारिता में ऊँचा स्थान प्राप्त किया था। पत्रकारिता के अमरीका के स्वानुभव वह खूब सुनाते थे, जिन्हें सुनकर आनन्द आता और सीखने को मिलता।

एक बार माखनलालजी कहीं जा रहे थे। शायद ग्रूप फोटो खिंचवाने की बात थी।

उनके काले बूट जूते कुछ मैले देख चटर्जी ने बूट पालिश ढूंढ़ उनके पहने ही जूतों को पालिश कर चमका दिया। इससे अमरीका में प्राप्त किये उनके इस ज्ञान की छाप पड़ी कि कोई भी काम छोटा और अपमान-जनक नहीं है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की अमरीका संबंधी पुस्तकों में यह बात पढ़ी जरूर थी, पर उसका असली उदाहरण सर्व-प्रथम यही देखा। पर इससे भी ज्यादा प्रभावित किया चटर्जी की इस बात ने कि हिन्दी के ज्ञाता न होने पर भी वह अच्छी हिन्दी लिख लेते थे। 'छात्र सहोदर' के वह संपादक थे और 'कर्मवीर' में उसके एक सहायक सम्पादक श्री देवीशंकर की अकाल मृत्यु पर उन्होंने सुंदर हिन्दी में श्रद्धांजलि-लेख लिखा था।

चटर्जी ऐसा कैसे करते हैं, इसका रहस्य मेरे लिए बड़ा उपयोगी हुआ। पता लगा कि अंग्रेजी और हिन्दी कोशों के सहारे वह शब्द-चयन करते और हिन्दी लिख लेते हैं। फिर तो मैंने भी डिक्शनरियों के सहारे अनुवाद का अभ्यास किया और एकदम नहीं तो आगे चलकर उससे बहुत लाभ उठाया। चटर्जी से प्राप्त यह सीख मुझ तक ही सीमित न रहे, और लोग भी इससे लाभान्वित हों, इसीलिए उनके प्रति आभार के साथ इसका उल्लेख करने का लोभ संवरण मैं नहीं कर सकता।

माखनलालजी की बातें सुनकर और उनके लिखाये व्यंग्य-विनोद, लेख अथवा मराठी से अनुवाद करना अच्छा तो लगता ही था, उससे सीखने को भी मिलता था।

'कर्मवीर' के पास दो बड़ी-बड़ी कोठियाँ थीं। दफ्तर में यों मेज-कुर्सियाँ भी थीं, परन्तु माखनलालजी के दिमाग में आदर्श लोकमान्य तिलक के 'केसरी' का ही था। बताते थे, सोकर उठने के बाद बिस्तरे को लपेट, उससे मेज का काम ले लिखने का काम किया जाता था। ऐसा ही कुछ दफ्तर से ऊपर के कमरों में किया भी जाता था और माखनलालजी के अग्रलेख भी अक्सर दफ्तर की मेज-कुर्सी पर नहीं बल्कि लिपटे हुए बिस्तर की मेज पर या यों ही जमीन पर बैठे-बैठे लिखे जाते थे।

सप्रेजी तो लोकमान्य के खास आदमी ही ठहरे। उनके कमरे में भी मेज-कुर्सी के बजाय गद्दा-चादर ही थे और जमीन पर बैठे हुए ही वह काम करते थे। उनका हाथ कुछ काँपता था, शायद लकवे का कुछ असर था, इससे वह हाथ से कम ही लिखते थे और बोलकर लिखाते थे। मैं इस काम के लिए तैयार रहता और इस बात की छाप मेरे ऊपर आज भी है कि लिखते या पाण्डुलिपि में संशोधन करते हुए विराम, अर्द्धविराम की जरा भी गलती वह फौरन पकड़ लेते और तत्काल दुरुस्त कराते थे।

संसार से विरक्त साधु का-सा उनका जीवन था, पर विरक्त होते हुए भी उनके स्नेह का यह हाल कि एक रात मैं अचानक बीमार हुआ तो पास के कमरे से मेरी

कराहने की आवाज सुनकर वह उठे और अपने मित्र डेगवेकरजी को (जो एम० एस-सी० और सुयोग्य वैद्य थे) बुला लाये। उनके उस ममत्व को भला भूला जा सकता है ?

'कर्मवीर' में ही मैंने अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शर्मा 'शंकर', रामनरेश त्रिपाठी आदि गण्यमान्य कवियों की हस्तलिखित कविताएँ देखीं, जो 'कर्मवीर' में प्रकाशनार्थ आती थीं। आज के प्रसिद्ध डा० रामकुमार वर्मा उन दिनों नरसिंहपुर में पढ़ते थे और सुन्दर हस्तलिपि में लिखी उनकी कविताएँ भी 'कर्मवीर' में आती थीं। सुभद्राकुमारी चौहान, जो बाद में खूब मशहूर हुईं उन्हें भी 'कर्मवीर' से ही प्रसिद्धि मिली। ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान की वह पत्नी थीं और बाद में वहाँ आ भी गयीं, पर शुरू में वह इलाहाबाद में पढ़ती थीं और वहीं से कविताएँ भेजती थीं। कर्मवीर कार्यालय में कविताओं का सम्पादन सबके बीच उन्हें पढ़-पढ़कर उनका रसास्वादन करते हुए होता था। मेरे जैसे कवित्वहीन व्यक्ति के लिए भी वह मजेदार अनुभव था, क्योंकि विनोद और हँसी के बावजूद उसमें किसी को नीचा समझने की भावना का सर्वथा अभाव और प्रोत्साहन एवं आगे लाने की भावना का प्राबल्य था।

ऐसे वातावरण में मैं पत्रकारिता में दीक्षित हुआ, जिसका फिर सत्यदेवजी श्रीप्रकाशजी, हरिभाऊजी, इन्द्रजी, देवदासजी आदि के सान्निध्य-संरक्षण में विकास करते हुए आज की स्थिति को पहुँचा।

■

पत्रकारिता का अभ्यास २

'कर्मवीर' ने पत्रकारिता की ओर मुझे उन्मुख तो किया, परन्तु पत्रकारिता में वास्तविक प्रवेश के लिए मुझे स्व० सत्यदेव विद्यालंकार का कृतज्ञ होना चाहिए। यह भी कुछ संयोग की ही बात थी कि पटना के 'तरुण भारत' में नियुक्त होकर वहाँ जाने का निश्चय करने पर भी वहाँ जाना न हुआ। मेरा सामान गंगा स्नान को आये कुछ लोगों के साथ (मामाजी के सामान के साथ) जबलपुर की गाड़ी में चला गया, जिससे मुझे भी जबलपुर जाना पड़ा। वहाँ से मामाजी के साथ, जो सत्यदेवजी के निमन्त्रण पर 'राजस्थान केसरी' में काम करने के लिए वर्धा जा रहे थे और मेरे अकेले कहीं नौकरी करने जाने के पक्ष में नहीं थे, मेरा भी वर्धा जाना हुआ। वहीं सत्यदेवजी का सान्निध्य मिला।

'राजस्थान केसरी' का वातावरण भी घरेलू था। सेठ जमनालाल बजाज उसे चलाते थे और उनके विशाल भवन में लगे चर्च के बँगले में हम लोग रहते थे। सत्यदेवजी उसके सम्पादक थे। सत्यदेवजी गुरुकुल काँगड़ी से कुछ ही समय पहले स्नातक हुए थे और दिल्ली में 'विजय' का अनुभव लेते हुए वर्धा आये थे। राष्ट्रीय और सार्वजनिक भावना से वह ओतप्रोत थे तथा उनके व्यवहार में अपनापन था। वह और मामाजी सम्पादन-कार्य करते थे। मैं नौकर नहीं था, पर सत्यदेवजी के अनुग्रह और अपनी लगन के कारण मैं भी एक तरह सम्पादकीय विभाग का अभिन्न अंग बन गया।

सत्यदेवजी के साथ गुरुकुल की पढ़ाई के नोट और कुछ पुस्तकें भी थीं। मुझे उनका लाभ मिला। राजनीति और शासन विधान सम्बन्धी प्रारम्भिक जानकारी मुझे उन नोटों से ही हुई। अर्थशास्त्र की अंग्रेजी की बड़ी पुस्तक, मार्सल जोड की 'पोलिटिकल इकानामी' थी। उसे हृदयंगम करने के लिए डिक्शनरी के सहारे मैंने उसका अनुवाद भी करना शुरू किया, जो गलत-सलत पचास-साठ पृष्ठों का कर भी डाला था।

गुजराती से हिन्दी में अनुवाद का इस समय तक मुझे कुछ अभ्यास हो गया था। उसका उपयोग 'राजस्थान केसरी' में प्रति सप्ताह प्रकाशित 'गान्धीजी की विचारसृष्टि' स्तम्भ में गान्धीजी के गुजराती लेखों के द्वारा किया। मराठी भी कुछ-कुछ समझने लगा था, जिसका मराठी पत्रों से 'राजस्थान केसरी' के लिए समाचार संकलन में उपयोग करता था। अंग्रेजी से अनुवाद का भी इस समय श्रमपूर्वक अभ्यास किया और

सर्वप्रथम 'यंग इण्डिया' में प्रकाशित गान्धीजी के 'बहिनों से' शीर्षक लेख का मेरा अनुवाद 'राजस्थान केसरी' में छपा, जिसे जब 'कर्मवीर' में भी ज्यों का त्यों छपा देखा तो मेरा उत्साह बढ़ा और फिर तो अंग्रेजी से अनुवाद का भी सिलसिला शुरू हो गया।

'राजस्थान केसरी' में इस तरह गुजराती और अंग्रेजी से अनुवाद का सिलसिला ही शुरू नहीं हुआ; समाचार-संकलन तथा डाक से प्राप्त संवाद, शिकायतों का संशोधन सम्पादन भी मैं करने लगा। यही नहीं, टिप्पणियाँ और अग्रलेख लिखने का काम भी किया।

'राजस्थान केसरी' मुख्यतः देशी रियासतों के लिए निकाला गया था, पर निकलता ब्रिटिश भारत से था और संचालक-सम्पादक सभी गान्धीजी के नेतृत्व में शुरू हुए असहयोग-आन्दोलन में सक्रिय थे। इसलिए स्वभावतः सभी तरह की राजनीति में वह सक्रिय था। अग्रलेख अलग-अलग पृष्ठों में प्रायः दो रहा करते थे—एक रियासत सम्बन्धी और एक सामान्य। कभी-कभी ऐसा हुआ कि दोनों अग्रलेख मैंने ही लिखे तथा अन्य कार्य भी किया। अलबत्ता यह हुआ सत्यदेवजी की देखरेख में, सीधे मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं थी।

इस तरह 'राजस्थान केसरी' में सम्पादन कार्य सीखा ही नहीं, डटकर किया भी, गुजराती तथा अंग्रेजी के साथ-साथ मराठी का भी ज्ञान प्राप्त किया। इससे आत्मविश्वास बढ़ा, साथ ही आगे का रास्ता खुला और कुछ ऐसा हुआ कि वेतनभोगी सहायक सम्पादक के रूप में भी काम करना पड़ा।

बात यों हुई कि जब कुछ काम करना आ गया और काफी समय यों ही करते हो गया तो मैंने इस दिशा में और ज्ञान प्राप्त करने के अर्थ काशीस्थ 'आज' के बाबू श्रीप्रकाशजी को एक पत्र लिखा। इन दिनों कुछ लेख भी मैं लिख चुका था; पता नहीं उन्हें श्रीप्रकाशजी ने देखा था या मेरे पत्र का ही कुछ असर हुआ कि उन्होंने मुझे आकर काम करने का नियुक्ति पत्र दे दिया। इसके अनुसार मैं काशी गया।

जब मैं 'आज' में जाने लगा तो सत्यदेवजी ने बहुत रोका और 'राजस्थान केसरी' में ही वेतन दिलाने की बात भी कही। मैं उस वक्त तो नहीं रुका, पर 'आज' में डेढ़ महीने ही काम कर पाया था कि वर्धा से सत्यदेवजी का तार मिला कि तुम्हारा तुरन्त यहाँ पहुँचना जरूरी है। इस पर मैं बिना तनख्वाह छुट्टी पाकर वर्धा पहुँचा और फिर सत्यदेवजी ने मुझे कहीं वापस नहीं जाने दिया। तभी 'राजस्थान केसरी' में मैंने वैतनिक कार्य किया।

पर 'राजस्थान केसरी' में सवेतन कार्य करने का ज्यादा योग नहीं था। थोड़े ही समय बाद श्री सतीदास मूदड़ा ने नागपुर से अर्ध साप्ताहिक 'प्रणवीर' निकाला।

क्रान्तिकारी भावना से युक्त, वयोवृद्ध राधामोहन गोकुलजी कहने को उसके प्रधान सम्पादक थे, पर वस्तुतः श्री सत्यभक्त ही उसके सम्पादक थे । वह भी अपनी किस्म के एक ही आदमी थे । 'कर्मवीर' तथा 'राजस्थान केसरी' की कार्यावधि के बीच कुछ समय मामाजी ने जब उनके साथ इलाहाबाद में काम किया था, उस समय वह मुझसे परिचित हो चुके थे । उन्होंने मुझे 'प्रणवीर' में बुलाया और टालमटोल देख एक दिन वह स्वयं नागपुर से वर्धा आये ओर मुझे 'राजस्थान केसरी' से 'प्रणवीर' में चला जाना पड़ा ।

'प्रणवीर' में सत्यभक्तजो के साथ श्री रामगोपाल विद्यालंकार और मैं ये दो सम्पादकीय विभाग में थे । संयोगवश तीनों ही अविवाहित और कार्य में लगनशील थे। सत्यभक्तजी अलग मकान लेकर रहते थे, मुझे और रामगोपालजी को सतीदासजी ने अपने बँगले में एक-एक कमरा दे रखा था । सत्यभक्तजी की सूझ-बूझ और स्वतन्त्र वृत्ति को तो मैं इलाहाबाद में ही देख चुका था, 'प्रणवीर' में उनके अन्दर मैंने सचमुच ऐसे स्वतन्त्र पत्रकार के दर्शन किये जो दवाव और प्रलोभन से मुक्त रहते हुए अन्तरात्मा के आदेश पर चलने को कृतसंकल्प था ।

सत्यभक्तजी को मैंने ऊपर से वड़ा ऊबड़-खावड़ पर काम में चौकस पाया । उनकी दृढ़ता का यह हाल कि झण्डा-सत्याग्रह (१९२३) के समय 'वाम्वे क्रानिकल' के विशेष प्रतिनिधि मि० राघवन ने एक रात 'प्रणवीर' में कुछ निकलवाना चाहा । रामगोपालजी अपने मीठेपन के कारण राघवन साहव के प्रेमपात्र थे और बाद में तो उन्हें 'वाम्वे क्रानिकल' का संवाददाता भी उन्होंने वनवा दिया था । रामगोपालजी से उन्होंने अपनी वात कही, पर रामगोपालजी की सत्यभक्तजो से गुपचुप ऐसा करने की हिम्मत नहीं हुई और आखिर उन्हीं से राघवन को बात करनी पड़ी । अंग्रेजीदाँओं का दवदवा तब भी था, राघवन साहव शानदार आदमी थे, शराव और खर्चीलेपन के अलावा बड़े लोगों और गवर्नर तक उनकी पहुँच थी । हिन्दी सम्पादक उनसे सकुचा ही रह सकता था । पर सत्यभक्तजी कच्चा लोहा नहीं थे; उन्होंने पूरी वात समझे बिना 'प्रणवीर' में कुछ भी छापने से इनकार किया और राघवन साहब के रौबदाव तथा उनकी वकझक की कुछ भी परवाह नहीं की ।

मुझ पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा । इसका ही सम्भवतः यह कारण है कि विनम्र और संकोची होते हुए भी रौबदाव या दवाव में आकर सम्पादकीय कर्तव्य के साथ मैंने कभी सौदेवाजी नहीं की ।

सत्यभक्तजी के निःस्वार्थ-भाव को भी मैंने अच्छी तरह 'प्रणवीर' में ही देखा । वह किसी विचारधारा से आवद्ध नहीं थे । जव जो उचित लगता वही करते और ऐसा करते हुए किसी भी आर्थिक हानि या कष्ट सहन की उन्होंने परवाह नहीं की ।

भरतपुर के निवासी वह थे और विद्यार्थीकाल में मामा शंकरलालजी तथा श्री निरंजन शर्मा 'अजित' के सहपाठी रहे थे। उसी काल में उन्हें लिखने का चस्का लगा और एक बार लेख लिखने का शौक लगा तो हिन्दी का दैनिक, साप्ताहिक, मासिक कोई पत्र नहीं बचा जिसमें कुछ न कुछ न लिखा हो। यहाँ तक कि जैन पत्र भी (जो कि 'चक्खनलाल' से 'सत्यभक्त' बनने तक उनका धर्म था) उनके लेखों से वंचित न रहे। गोरखपुर की 'ज्ञानशक्ति' में मैंने उनकी 'शाही लकड़हारा' शीर्षक कविता भी पढ़ी थी।

विद्यार्थी जीवन में ही वे माता से वंचित और क्रान्ति-प्रभावित हो गये थे, जिससे ब्रह्मचर्य का ऐसा व्रत साधा कि किसी स्त्री के हाथ का बना खाना भी न खाते। इसी समय बम बनाने या किसी ऐसे ही काम के लिए पोटास पीसते हुए ओठ और हाथ भी खंडित कर चुके थे। स्वदेशी लिबास उन्होंने तब अपनाया जब गांधीजी शायद दक्षिण अफ्रीका में ही थे या भारत आये-आये ही थे और देशी मोटे कपड़ों में 'स्वामी' के-से रूप में मैंने १९१४ में ही उन्हें देखा था। स्कूल शायद हाई स्कूल की आठवीं क्लास से छोड़ दिया, पर पढ़ने के इतने शौकीन कि भरतपुर की 'हिन्दी साहित्य समिति' द्वारा स्थापित लाइब्रेरी में शायद ही कोई किताब ऐसी हो जो उन्होंने पढ़ न डाली हो। इसके बाद जब गांधीजी के साबरमती आश्रम गये तो वहाँ की लाइब्रेरी की भी हिन्दी, अंग्रेजी, बँगला की कोई भी किताब उनके अवलोकन से न बची।

श्री सुन्दरलालजी से उन्होंने सम्पादन की दीक्षा ली और 'भविष्य' में काम किया। सुन्दरलालजी का कहना था—लिखने का मतलब यह नहीं कि जो लिखो वह छपे ही। समाचारपत्रों का इतिहास लिखा था उसे भस्म कर दिया और यही हश्र रामायण के अधूरे भाष्य का हुआ। गान्धीजी ने जब हिन्दी 'नवजीवन' निकालने का विचार किया तो सुन्दरलालजी ने इन्हें इस काम के लिए साबरमती-आश्रम भेजा। वहाँ 'नवजीवन' के प्रकाशन में विलम्ब था, गान्धीजी ने कहा—"सत्यभक्त, तब तक तुम चर्खा चलाओ।" जबाब दिया, "मैं चर्खा चलाने नहीं आया; मैं तो 'नवजीवन' के लिए आया था।" और वहाँ से चले आये।

'प्रणवीर' में उस समय के हिसाब से सत्यभक्तजी को अच्छा वेतन मिलता था और उनके काम में कोई हस्तक्षेप या अवरोध नहीं था। लेकिन इसी समय मजदूर-सेवा या श्रमजीवी-आन्दोलन के विचारों से वह प्रभावित हुए। एम० एन० राय की 'इण्डिया इन ट्रांजिशन' पुस्तक जो शायद जब्त थी, इन दिनों मैंने उनके पास देखी। इसके बाद मालूम हुआ कि मजदूरों में काम करने के लिए वह कानपुर जा रहे हैं। सतीदास-जी ने तनख्वाह और बढ़ाने को कहकर उनसे न जाने का आग्रह किया तो कहा,

"तनख्वाह या रुपये की कमी से मैं नहीं जा रहा, मैं तो बस अब श्रमजीवी-आन्दोलन में पड़ना चाहता हूँ।" और 'प्रणवीर' छोड़कर कानपुर चले गये।

यह बात शायद ही आज कोई जानता हो कि भारत में सर्वप्रथम कम्युनिस्ट पार्टी का गठन उन्होंने ही किया था, या वही सर्वप्रथम उसके मन्त्री थे। कानपुर में रहते हुए उन्होंने आर्थिक सहायता सम्भवतः किसी से नहीं ली। जब तक रुपया रहा, बादशाही नाके पर अच्छे मकान में रहे; फिर रुपया कम होने पर छोटे मकान में चले गये और अन्त में एक कोठरी में रहते थे। उन्हीं के बादशाही नाके वाले मकान में एक बार सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी शचीन्द्र सान्याल रहे थे, जिनको कई दिन तक निकट से देखने-सुनने का मेरा भी सौभाग्य हुआ। क्रान्तिकारी न होते हुए भी मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ।

सत्यभक्तजी ने इसके बाद सम्पन्न जीवन शायद ही बिताया हो। अब भी फाकेमस्ती की हालत में ही मथुरा में हैं और 'अखण्ड ज्योति' वालों का कुछ काम करते हैं। उनकी स्वार्थहीनता की भावना का, कर्तव्य पालन में निजी स्वार्थ को आगे न रखने का कुछ असर मुझ पर भी हुआ तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं।

■

३ 'आज' और श्रीप्रकाशजी

बाल्यावस्था में स्कूल को किसी किताब में मैंने पढ़ा था—'करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।' इसका मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी की एक रीडर में पढ़ी हुई—'ट्राई ट्राई अगेन' (बारंबार प्रयत्न करो) कविता ने उसे और पुष्ट किया। जीवन में यही मुझे करना है, यह उस समय पता न था; पर जैसा पिछले संस्मरणों में बतलाया गया, ऐसा ही मुझे करना पड़ा और जो कुछ भी मैं बना, उसे उसीका परिणाम कहूँ तो गलत न होगा।

'कर्मवीर', 'राजस्थान केसरी' और 'प्रणवीर' के कुछ संस्मरण बतलाये जा चुके हैं, पर 'आज' के अल्पकालीन कार्यकाल ने भी मेरे पत्रकार-जीवन पर कम असर नहीं डाला। सच पूछो तो दैनिक पत्र का वही सर्वप्रथम अनुभव था और यह मेरा सौभाग्य था कि दैनिक का प्रथम अनुभव उस समय के सर्वाधिक साधन-सम्पन्न तथा आधुनिकतम पत्र में प्राप्त किया।

यह सन् १९२१ की बात है। नौकरी के लिए अकेले और अपरिचित स्थान में जाने का यह मेरा पहला अवसर था। उम्र भी कोई ज्यादा नहीं थी, कुल सत्रह बरस का मैं उस समय था। फिर भी इसे सौभाग्य ही कहना चाहिए कि मैंने वहाँ सीखा ही नहीं, नये-नये और सर्वथा अपरिचित लोगों का सौहार्द भी प्राप्त किया। साथ ही दुनिया के कुछ व्यावहारिक अनुभव भी मुझे वहाँ हुए।

'आज' का पहला अनुभव भयकारक था। बड़ा दफ्तर बड़े लोग! मैं दफ्तर में मय सामान के सबेरे पहुँच गया था, क्योंकि स्टेशन से सीधे वहीं गया था। वहाँ पता चला कि श्रीप्रकाशजी शाम को आते हैं। अतः शाम तक इन्तजार किया और लोगों को आते-जाते देखता रहा, जो सभी अपरिचित और कुछ मोटे-ताजे भी थे।

श्रीप्रकाशजी के आने पर बुलावा आया। ऊपर की मंजिल के एक कमरे में उनके सामने मैं हाजिर हुआ। वह कुर्सी पर बैठे थे और उनकी मेज के आगे एक बेंच पड़ी थी, उसी पर मैं बैठा और अपनी बारी आने तक बैठा-बैठा उनके लंबे-चौड़े रोबीले रूप को देखता रहा।

उसी समय म्युनिसिपैलिटी का कोई मुंशी या चपरासी एक फाइल लिये आया और

बड़े अदब से 'हुजूर-हुजूर' कहते हुए श्रीप्रकाशजी के सामने पेश की। काम की व्यस्तता हो या कोई अन्य कारण, श्रीप्रकाशजी ने उसे उठाकर फेंक दिया और बिगड़कर कुछ इस प्रकार कहा—'हमारा वक्त क्या फाल्तू है, इसका नोट बनाकर क्यों नहीं लाये ?'

मुझ पर इसका अच्छा असर नहीं पड़ा। मुझे लगा कि यह तो बड़े गुस्सेबाज आदमी हैं और इस तरह पेश आते हैं, मेरे साथ कहीं ऐसा हुआ तो ? परदेश में अकेलापन और उस पर ऐसे व्यवहार की सम्भावना ! मैं भयभीत हुआ, फिर भी हिम्मत तो रखनी ही थी।

कुछ देर बाद श्रीप्रकाशजी मेरी ओर मुखातिब हुए और मुझे बगल के कमरे में ले गये, जो 'आज' और ज्ञानमण्डल के सर्वेसर्वा बाबू शिवप्रसाद गुप्त का कमरा था और जिसमें गद्दा बिछा हुआ था, मेज-कुर्सी-लैंप भी थे। वहाँ श्रीप्रकाशजी ने बड़े सौजन्य और अपनेपन के साथ मेरे बारे में पूछताछ की तथा अंग्रेजी की एक किताब पढ़वाकर बीच-बीच में उसका मतलब भी पूछा।

मुझे आश्चर्य हुआ कि जिन श्रीप्रकाशजी ने अभी-अभी मुझे भयभीत कर दिया था वही मुझसे इतने सौजन्य और आत्मीयता के साथ पेश आये। यही नहीं, रहने की व्यवस्था भी, जब तक मकान न मिल जाय, शिवप्रसादजी के सुसज्जित कमरे में ही कर दी। इसके बाद भी, जब तक मैं वहाँ रहा, मुझे उनकी आत्मीयता का ही अनुभव हुआ और उनसे भविष्य के लिए मुझे बहुत शिक्षा मिली।

श्रीप्रकाशजी सचमुच बड़े आदमी थे, खाली सम्पादक ही नहीं थे। डा० भगवान दासजी जैसे विद्वान् के पुत्र, देश-विदेश में उच्च शिक्षाप्राप्त, बैरिस्टर और रईस, म्युनिसिपल कमिश्नर और लोकनेता भी वह थे। 'आज' के स्वामी बाबू शिवप्रसाद गुप्त के वह परममित्र थे, जिनकी देखरेख में 'आज' ने हिन्दी में अंग्रेजी पत्रों का-सा स्तर बनाया और कई परम्पराएँ डालीं।

आज तो हिन्दी में पत्रकारिता बहुत आगे बढ़ गयी है, सुसंगठित और सम्पन्न अंग्रेजी पत्रों के 'बाइप्रोडक्ट' के रूप में निकले हिन्दी पत्रों को अंग्रेजी पत्रों के विस्तृत साधन उपलब्ध होने से उनका मुकाबला अपेक्षाकृत कम साधनों वाले अकेले हिन्दी में निकलनेवाले पत्र नहीं कर पाते। लेकिन उस समय ऐसी स्थिति न थी और बाबू शिवप्रसादजी के उत्कट हिन्दी-प्रेम के कारण 'आज' ही हिन्दी का सर्वाधिक साधन-सम्पन्न और सर्वश्रेष्ठ पत्र था।

मैं जब 'आज' में गया, पराड़करजी (स्व० बाबूराव विष्णु पराड़कर) दफ्तर नहीं आते थे, घर में लिखी उनकी टिप्पणियाँ आया करती थीं। शायद कुछ अग्रलेख भी आते हों, जिनका सम्भवतः उन्हें किसी निश्चित व्यवस्था के अनुसार पारिश्रमिक या वेतन

मिलता था। श्रीप्रकाशजी शाम को (तीसरे पहर) आते थे। वही 'आज' के काम का मुख्य समय भी था। तीसरे पहर के कोई तीन बजे से रात के ९-१० बजे तक दफ्तर पूरा भरा रहता। उसी समय समाचार कंपोज होते और अग्रलेख भी तभी प्रेस में जाता।

यों दिन में भी काम होता, पर उस वक्त दफ्तर प्रायः सूना रहता। उमाशंकरजी, जो आजकल प्रयाग से विविध पत्रों को समाचार भेजते हैं, दिन में आया करते थे और डाक से आये संवादों तथा विदेशी समाचारों का काम किया करते थे। श्री महीपत राम नागर सम्पादकीय विभाग के सुप्रीण्टेण्डेण्ट थे, जो 'लीडर' के श्री कृष्णराम मेहता के भानजे थे और 'आज' को 'लीडर' के स्तर पर ढालने के लिए ही शायद लाये गये थे। वह बहुत सज्जन और अंग्रेजी में पारंगत थे, पर हिन्दी का उन्हें अच्छा अभ्यास नहीं था।

मेरा काम समाचार-तारों का अनुवाद कर प्रेस में भेजने लायक बनाना था, जिसे मैं किसी न किसी सीनियर सहायक सम्पादक की देखरेख में करता था। श्री दिनेश-दत्त झा और पं० कृष्णविहारी मिश्र से इसी सिलसिले में सम्पर्क हुआ, जो दोनों ही बहुत सज्जन व्यक्ति थे। झाजी जर्मनी से डा० विनयकुमार सरकार द्वारा बंगला में भेजी जानेवाली 'यूरोप की चिट्ठी' का हिन्दी अनुवाद करते थे और उनकी देखरेख में समाचारों के अनुवाद व सम्पादन का कार्य होता था। मिश्रजी भी समाचार विभाग में ही थे और वह भी हमारे लिखे समाचार देखते तथा प्रेस में भेजने को पास करते थे।

यह काम तो शाम को ३ से ९ के बीच ही होता, पर मैं तो रात-दिन दफ्तर में ही रहता था और सीखने की लगन थी। इसलिए दिन में भी कुछ हाथ बटा लेता। वहाँ प्रूफ देखने का अलग इन्तजाम था और डाक-संवादों का संकलन सब लोग नहीं करते थे, इसलिए सबको इन कामों का अभ्यास न था। पर मैं तो साप्ताहिक में यह सब काम करते हुए आया था, इसलिए बिना चाहे सहायता को तैयार रहता, इसके अलावा नागरजी किसी अंग्रेजी पत्र में निशान लगाकर दे देते तो उसके आधार पर टिप्पणी भी लिख देता। जब वे 'आज' में छप जातीं तो परम सन्तोष और आनन्द होता।

'आज' के अग्रलेख वाले पृष्ठ पर एक विशेष लेख भी जाया करता था। लिखने का शौक तो था ही, फिर मैं क्यों चूकता? मेरा भी लेख जब छपा, तो उस वक्त हुए आनन्द का क्या कहना। फिर उसमें एक घटना ने आत्मसन्तोष के साथ आत्मविश्वास भी प्रदान किया।

वह इस प्रकार कि जिस दिन मेरा लिखा विशेष लेख जा रहा था, अन्य कार्यों में व्यस्त रहने से श्रीप्रकाशजी उसके बारे में न जान पाये थे। रात को जब वह जाने

लगे तब उन्हें विशेष लेख का खयाल आया और उन्होंने उसके बारे में पूछा । जब उन्हें बतलाया गया कि मेरा लिखा लेख जा रहा है, तो मैंने उन्हें निश्चिन्तता से कुछ ऐसा कहते हुए सुना—'ठीक है, हो राइट्स वेल ।' यह सुनकर मुझे कितना आनन्द हुआ होगा और कितना आत्मविश्वास एवं प्रोत्साहन मैंने पाया होगा, यह आज कहना कठिन है । पर इसमें शक नहीं कि श्रीप्रकाशजी के ऐसे कथन ने मुझे आगे के लिए आश्वस्त और निःशंक कर दिया, जिससे फिर मैं क्रमशः आगे से आगे ही बढ़ता गया ।

'आज' में अंग्रेजी तारों से हिन्दी में समाचार तैयार करना ही मुख्य काम होने से हिन्दी में अनुवाद का अभ्यास ही नहीं बढ़ा, जल्दी अनुवाद करने की आदत भी पड़ी । साथ ही ऐसा करते हुए एक घटना ने सावधानी और जिम्मेदारी की भावना भी पैदा कर दी । वह इस प्रकार कि एक बार किसी जिले से तार द्वारा ऐसा समाचार आया जिसमें गोली चलने और शायद किसी के घायल होने की घटना थी । तार समाचार-एजेंसी एसोशियेटेड प्रेस आफ इण्डिया से नहीं आया था, बल्कि किसी संवाददाता या व्यक्ति द्वारा भेजा गया था । मुझे वह दिया गया और मैंने हस्बमामूल अनुवाद करके अपने इन्चार्ज सीनियर सहायक सम्पादक को दे दिया । उन्होंने उसमें रिवाल्वर काटकर पिस्तौल किया और प्रेस में भेज दिया । दूसरे दिन वह समाचार 'आज' में प्रकाशित हुआ, दोपहर को पन्ने उलटते हुए श्रीप्रकाशजी की नजर उस पर पड़ी तो वह परेशान हुए कि ऐसा समाचार बिना पूरी छानबीन किये कैसे निकल गया । तुरन्त (शायद साइकल पर सवार हो) वह दफ्तर आये और हायतोबा मच गयी कि यह कैसे गया और किसने दिया ।

श्रीप्रकाशजी रोज शाम को बग्घी पर आते थे । बेवक्त इस तरह उनके आने और कड़ाई से पूछताछ ने सभी को भयभीत कर दिया । कोई उसकी जिम्मेदारी लेने को तैयार न हुआ । आखिर यही रहा कि जो नये महाशय आये हैं उन्हीं से ऐसी गलती हो गयी होगी ।

अब मेरी पूछताछ हुई । मैं नीचे नल पर हाथ-मुँह धो रहा था कि घबराये हुए चपरासी ने आकर बुलावे की सूचना दी, साथ ही यह भी बताया कि वातावरण बड़ा गरम है । मुझे प्रथम दिन के वातावरण का खयाल आया, जी घबराया, पर जो कुछ भी हो उसका मुकाबला तो करना ही था ।

इस बार भी मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि डरते और घबराते हुए जब मैं श्रीप्रकाशजी के पास पहुँचा तो रौद्र के बजाय सौम्य रूप ही मेरे लिए उनका रहा । पहले की ही तरह शिवप्रसादजी के कमरे में ले जाकर शालीनता के साथ अकेले में

मुझसे पूछा, "मुकुटजी, यह समाचार आपने किया है ?" मेरे स्वीकार करने पर उन्होंने कानून की कई दफाओं का उल्लेख किया और बोले—आपको मालूम है, ऐसे मामलों में पूरी छानबीन न करने पर अमुक-अमुक दफाओं में फँसना पड़ता है ? मैंने कहा—जी, मैं तो कानून जानता नहीं, न मैंने ऐसा कुछ सोचा ही । मुझे तो जो तार अनुवाद करने को दिया जाता है उसे करके देनेवाले को दे देता हूँ, फिर वह जैसा समझें वैसा संशोधन-सम्पादन करके प्रेस को भेजते हैं । यह समाचार भी इसी तरह गया है । मैं न तो इसे भेजनेवाले को जानता हूँ, न इसके फलितार्थ को ।

तब सवाल आया, किसने करने को दिया था और पास करके भेजा किसने था ? मुझे यह पता था और यह भी मालूम था कि इन्चार्ज महोदय ने उसमें संशोधन किया है; पर जब उन्होंने स्वयं ऐसी जिम्मेदारी नहीं ली, या उन्हें इसकी याद नहीं रही, तो मैं भला क्यों उन्हें बीच में डालता । मैंने निश्चित रूप से किसी का नाम बताने में असमर्थता प्रकट की और तब प्रेस से समाचार की पांडुलिपि मँगाकर पता लगाने की बात रही ।

रात को पांडुलिपि मिल गयी, पर तब तक श्रीप्रकाशजी घर जा चुके थे । जिन महोदय ने संशोधन करके उसे प्रेस में भेजा था उन्हें चिन्ता हुई, पर मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि मैं उनको आगे लाने का काम नहीं करूँगा और पांडुलिपि उन्हीं के सुपुर्द कर दी । श्रीप्रकाशजी को फिर कहाँ याद रहना था ! इस तरह बात आयी-गयी हुई ।

इस घटना से मुझे तो लाभ ही हुआ । एक तो अपने वरिष्ठ साथी का सद्भाव मुझे मिला, दूसरे अखबार में छपने वाले समाचारों के बारे में सावधानी बरतने की बात हमेशा के लिए मन में बैठ गयी । शायद इसी का परिणाम है कि बाद में नाजुक से नाजुक मामलों के समाचारों को तैयार करते हुए भी मुझे कभी फँसने का अवसर नहीं हुआ ।

'आज' की कुछ विशेषताओं का भी यहाँ उल्लेख अप्रासंगिक न होगा । व्यवस्थित रूप में कार्य सर्वप्रथम मैंने यहीं देखा । दफ्तर में डिक्शनरियाँ, पुस्तकें और सन्दर्भ ग्रन्थ भी थे । 'आज' ने ही अंग्रेजी के मिस्टर की जगह हिन्दी में नाम के साथ श्री लिखने की परम्परा डाली । सौर पंचांग का प्रसार और लेखों में सन्-तारीख की जगह संवत् तिथि का प्रयोग किया । उच्चाधिकारियों के जो पूरे नाम दिये जाते थे, वे सिविल लिस्ट में देखकर ठीक किये जाते थे ।

अन्य पत्रों में जहाँ जोश और सरकार-विरोध की प्रधानता देखी जाती थी, 'आज' में राष्ट्रीयता के साथ गम्भीरता का पुट था । व्यक्तिगत आक्षेप-आरोप से सावधानी पूर्वक बचा जाता था । इस सम्बन्ध में बाद में 'संसार' में लिखे संस्मरणात्मक

लेखों में श्रीप्रकाशजी द्वारा बतायी गयी यह बात मुझे भूलती नहीं कि पराड़करजी के दिल और दिमाग में यह बात बिठाने में काफी समय और श्रम लगा कि किसी व्यक्ति के बारे में उसकी नीयत पर हमला किये बगैर भी लिखा जा सकता है।

शायद नरम दलीय पत्र 'लीडर' में किये गये काम की श्रीप्रकाशजी पर यह छाप थी, या केम्ब्रिज में प्राप्त शिक्षा का यह परिणाम था, जिसे 'आज' में कार्यान्वित किया गया। मुझ पर भी सम्भवतः उनका ही यह असर हुआ कि मैं लिखते समय व्यक्तिगत वाद-विवाद में नहीं पड़ता, न विरुद्ध लिखते हुए किसी की नीयत पर हमला ही करता हूँ।

हिन्दी में उस समय निश्चय ही यह नयी परम्परा थी, पर पत्रकारिता के उच्च मानदण्ड के लिए एक न एक दिन ऐसा होना आवश्यक था। अब भी इसका पूर्णतः पालन होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर अब जो पत्र ऐसा नहीं करते उन्हें 'पीली पत्रकारिता' या 'येलो जर्नलिज्म' की हीनतायुक्त श्रेणी में शुमार किया जाता है। ऐसे पत्रों का काम लोगों पर कीचड़ उछालकर, व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप करके कमाई या सस्ती वाहवाही हासिल करना है। समाज पर या समाज में निश्चय ही अच्छा असर वे नहीं डाल पाते।

■

४ 'प्रताप' और गणेशजी

पत्रकारिता में प्रवेश तो हो गया, पर अभी मैं नीचे की सीढ़ी पर ही था और मंज़िल पूरी करने के लिए बीच की घाटियाँ पार करना जरूरी था।

लेबिल वाली (विश्वविद्यालयी) शिक्षा न होने से हीनता की भावना निरुत्साहित कर सकती थी, संकोची वृत्ति जो पड़ी उसका भी कारण शायद यही था। पर उस समय लेबिल के बजाय़ काम करते हुए आगे बढ़ने का ही जमाना था। सी० वाई० चिन्तामणि जो उस समय सर्वश्रेष्ठ भारतीय पत्रकार माने जाते थे वे भी मैट्रिक्युलेट से अधिक न थे।

'कर्मवीर', 'राजस्थानकेसरी', 'प्रणवीर' और 'आज' का अनुभव साप्ताहिक, अर्ध साप्ताहिक और दैनिक पत्रों पर आधारित था; मासिक पत्र के अनुभव की चाह ने लखनऊ की 'माधुरी' की सैर करायी। 'सैर' इसलिए कहता हूँ कि नियुक्ति पत्र प्राप्त हो जाने पर भी मैं कई महीने बाद लखनऊ पहुँचा। इस बीच मेरे आने की आशा छूटने या अन्य किसी कारण से, बिहार के बाबू शिवपूजन सहाय की नियुक्ति हो चुकी थी। ऐसी हालत में मैं पहुँच गया था तब काम तो 'माधुरी' में किया, पर शायद महीने भर से भी कम समय।

'माधुरी' में जाने से पहले, आगरकरजी की सलाह पर, 'प्रणवीर' के प्रतिनिधि-रूप में कांग्रेस-महासमिति की बैठक के सिलसिले में अहमदाबाद जाने पर, 'हिन्दी नवजीवन' का काम कर रहे श्री हरिभाऊ उपाध्याय से मैं मिला था। वह पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'सरस्वती' का सम्पादन कर चुके थे। मेरे आग्रह पर मासिक पत्र की संपादन संबन्धी कुछ बातें उन्होंने मुझे नोट करायी थीं जो उस साल की डायरी में मैंने लिखी थीं। उस समय मुझे यह खयाल भी नहीं था कि आगे जाकर उनके ही साथ मासिक पत्र का काम मुझे करना पड़ेगा। पर वह तो बाद की बात है, जिस पर यथा स्थान लिखना ही ठीक होगा।

'माधुरी' का जहाँ तक संबन्ध है, वहाँ के अल्पकार्यकाल में मैंने अनुवाद के बजाय लेखों के संपादन और प्रूफ-संशोधन का काम किया। पं० दुलारेलाल भार्गव सर्वेसर्वा थे ही, पर पं० रूपनारायण पाण्डेय भी संपादक थे। उन्हीं के हस्ताक्षरों से नियुक्ति पत्र मुझे मिला था। साथ ही संयोगवश पं० कृष्णविहारी मिश्र भी उस समय 'माधुरी' में काम कर रहे थे, जिनका सान्निध्य और स्नेह मैं 'आज' में प्राप्त कर चुका था।

प. २

लेखों के संपादन और प्रूफ-संशोधन में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। 'माधुरी' की भाषा-शैली से परिचित होने में देर नहीं लगी। लिये का प्रयोग वहाँ वास्ते के अर्थ में 'लिए' होता था और लिया के बहुवचन में लिये। वातावरण सर्वथा घरेलू नहीं था तो एकदम दफ्तरी भी नहीं, इसलिए न कोई कटु अनुभव हुआ और न पूर्वस्थानों की तरह गाढ़-सम्बन्ध ही बने। फिर भी मासिक पत्र का अनुभव तो हुआ ही और मेरे लिए वह क्षेत्र दुर्भेद्य नहीं रहा।

लखनऊ के साहित्यिक जीवन अथवा साहित्यकारों के संपर्क का लाभ तो इतने अल्पकाल में संभव ही नहीं था। साहित्यिक लेखों के अवलोकन एवं संपादन से अवश्य मैंने लाभ उठाया, जिसका भविष्य में मेरी लेखन-शैली पर कुछ प्रभाव पड़ा होगा। पर सबसे बड़ा लाभ हुआ 'प्रताप' के श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी के संपर्क का, जो इस समय बीच-बीच में कानपुर जाने और 'माधुरी' छोड़ने के बाद कुछ समय कानपुर ही रहने से अनायास प्राप्त हुआ।

गणेशजी से प्रभावित तो मैं 'प्रताप' निकला तभी से उसे देखते-पढ़ते रहने के कारण पहले से था। नरसिंहगढ़ से मामाजी के साथ जबलपुर जाते हुए भोपाल स्टेशन पर उनके सर्वप्रथम दर्शन भी कर चुका था। पर 'माधुरी' के सिलसिले में लखनऊ आने से कानपुर में उन्हें निकट से देखने और संपर्क का लाभ मिला।

यों कानपुर में मैं ठहरा था सत्यभक्तजी के यहाँ, जो 'प्रणवीर' छोड़कर वहाँ बसे हुए थे और संभवतः मजदूरों में काम कर रहे थे। पर गणेशजी के पास जाता रहता था। बालकृष्ण शर्मा से तो जबलपुर में ('कर्मवीर' में माखनलालजी के पास) आने पर परिचय हो चुका था और रात एक-डेढ़ बजे तक गपशप भी हुई थी, पर गणेशजी से संपर्क नया ही हुआ। आश्चर्य यह कि न जाने कब से उनके लिए मन में बहुत ऊँची भावना होते हुए भी संपर्क होने पर वह दुर्लंघ्य नहीं लगे।

गणेशजी से बाद में ('स्वदेश' का काम सँभालने पर) और भी संपर्क हुआ, लेकिन पहली बार में ही मैंने जान लिया कि अन्य सबसे वह बहुत भिन्न हैं। उनमें पारसमणि जैसी आकर्षण शक्ति थी और उनका जीवन जहाँ उदात्त व कर्मण्य था वहाँ स्वाभिमान भरपूर रहते हुए भी अभिमान का लेश नहीं था। वस्तुतः उनका जीवन सेवार्पित था, वह व्यक्ति नहीं संस्था थे; पर-दुःख-कातरता और सर्वकल्याण की भावना से न केवल ओत-प्रोत थे, बल्कि उसके लिए अहर्निश सक्रिय भी रहते थे। यही कारण है कि सजीवता की वह मूर्ति थे। दुःखी-पीड़ित तो उनसे सहारा पाते ही थे, सभी उनकी ओर आकर्षित होते थे। विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते थे। उनके पास बैठना और उनकी बातें सुनना संजीवन का काम करता था।

पत्रकारिता को उन्होंने नया मोड़ दिया। करेंसी दफ्तर की नौकरी से पत्रकारिता में जो वह पड़े और 'प्रताप' का श्रीगणेश किया, वह कमाई के लिए नहीं, न शोहरत कमाने के लिए, बल्कि देश और देशवासियों के स्वाभिमान की रक्षा और उन पर हो रहे अन्याय-अत्याचारों के प्रतिरोध को बढ़ावा देने के लिए। इसीलिए 'प्रताप' के रूप में महाराणा प्रताप की आन को उन्होंने अपनाया और पत्र का उद्देश्य वाक्य रखा :

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा और मृतक समान है॥

'प्रताप' के द्वारा उन्होंने ब्रिटिश भारत के साथ-साथ रियासती प्रजा के उत्पीड़न को भी प्रकाशन दिया। प्रकाशन ही नहीं, रियासती आन्दोलनों को तथा वहाँ जन-जागृति करनेवालों को भी उन्होने प्रोत्साहन और आश्रय दिया। राजपूताना-मध्यभारत सभा के रूप में हुए रियासतों के सर्वप्रथम संगठन को उनका सहयोग प्राप्त था, राजस्थान सेवा संघ को भी उनका सहयोग मिलता रहा। छिटपुट आन्दोलनों, व्यक्तियों तथा संगठनों को भी उन्होंने बढ़ावा दिया।

देशवासियों पर अन्याय-अत्याचार के खिलाफ़, फिर वे चाहे ब्रिटिश भारत या रियासतों में हों अथवा देश से बाहर, 'प्रताप' की आवाज सदा असंदिग्ध और बुलन्द रही। कुली प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन को इसीलिए 'प्रताप' का सबसे बड़ा सहारा मिला और महात्मा गांधी कानपुर में आने पर सर्वप्रथम प्रताप कार्यालय में ही ठहरे थे। गांधीजी को आम लोगों तक लोकप्रिय बनाने में समाचार पत्रों में 'प्रताप' से ज्यादा योग शायद ही किसी अन्य पत्र का रहा होगा।

'प्रताप' के लिए पत्रकारिता व्यवसायपरक नहीं लोक-कल्याणार्थ थी। इसीलिए आर्थिक प्रलोभनों से मुक्त रहते हुए अन्याय-अत्याचार के खिलाफ सब तरह के बलिदान के लिए वह तैयार रहा। फलतः कई रियासतों में उस पर प्रतिबंध लगे, तरह-तरह की धमकियाँ दी गयीं और मुकदमे भी चले। साथ ही अर्थ-प्रलोभन भी उसके सामने आये। पर वह विना झुके और बग़ैर प्रलोभन में आये अपने रास्ते चलता रहा; यहाँ तक कि उन लोगों पर हुए अन्याय के विरुद्ध भी उसने अपनी आवाज़ उठायी जिनके अन्याय के खिलाफ वह लड़ रहा था और खुद जिनके अन्याय का शिकार था।

इन्दौर के श्री सुखसम्पत्ति राय भण्डारी (अब स्वर्गीय) से मेरी सर्वप्रथम भेंट प्रताप-कार्यालय में ही हुई थी। उस समय तो मैंने नहीं जाना, पर काफी समय बाद उन्हीं से मुझे ज्ञात हुआ कि बावला-हत्याकाण्ड में इन्दौर महाराज पर आयी मुसीबत में समाचार पत्रों को शासक के पक्ष में करने के लिए उनकी वह यात्रा थी। स्वभावतः धन का उसके लिए मुक्त-हस्त उपयोग किया गया। गणेशजी के पास भी वह इसीलिए आये थे।

अपने प्रयत्न में भण्डारीजी को सफलता भी मिली। अर्थाभाव से पीड़ित पत्रों-पत्रकारों को उससे कुछ माली राहत अवश्य मिली होगी। पर भण्डारीजी ने मुझे बताया कि गणेशजी तथा एक अन्य हिन्दी पत्रकार (पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर) ऐसे निकले जिन्होंने अर्थ-स्पर्श तो दूर, उसकी बात सुनना भी पसन्द नहीं किया। साथ ही उन्हें यह जानकर आश्चर्य भी हुआ कि उनकी प्रेरणा के बगैर ही 'प्रताप' महाराज का पक्ष ले रहा था, जबकि उस समय इन्दौर राज्य में 'प्रताप' पर प्रतिबंध भी था। गणेशजी का पक्ष स्पष्ट था—"प्रजा के प्रति महाराज के रुख के हम आलोचक हैं, पर अंग्रेजी सरकार उस कारण उन पर कोई कार्रवाई न कर उनके देशभक्तिपूर्ण रुख के कारण इस मामले को उनके खिलाफ कार्रवाई का कारण बना रही है; इसलिए महाराज से अपनी लड़ाई के बावजूद इस मामले में उनका साथ देना हमारा कर्त्तव्य है। 'प्रताप' पर उनका प्रहार हमें अपने इस कर्त्तव्य से रोक नहीं सकता, न ऐसा करने के लिए हमें उनके पैसे या 'प्रताप' पर लगा प्रतिबन्ध हटवाने की सौदेबाजी की ही जरूरत है।"

ऐसा दृष्टिकोण रखना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं है। और मैंने 'प्रताप' कार्यालय में देखा, उन दिनों इन्दौर से डाक द्वारा आये समाचार तथा महाराज के पक्ष-विपक्ष के समाचारों का उनकी दृष्टि और कलम से निकले बगैर छपना संभव नहीं था। अग्रलेख, जो उस समय पत्र-संपादक का सर्वप्रमुख कार्य माना जाता था, उन दिनों बालकृष्णजी या दूसरे लोग लिख देते थे पर इन्दौर महाराज सम्बन्धी सामग्री वह खुद तैयार करते थे। मुझे इससे यह सीख मिली कि सम्पादक का प्रधान कार्य पत्र की नीति निश्चित करना और उसके पूरी तरह निर्वाह के लिए सम्पादन सम्बन्धी छोटे-बड़े हर काम को करने के लिए तैयार रहना है। अग्रलेख का महत्त्व होते हुए भी अग्रलेख स्वयं सम्पादक ही लिखे यह जरूरी नहीं है, बल्कि समय और आवश्यकता के अनुसार कभी-कभी उसके बजाय छोटे समझे जानेवाले काम करना सम्पादक के लिए ज़्यादा जरूरी होता है।

सम्भवतः इसी समय गणेशजी की उदात्तता का एक और अनुभव हुआ। अपने कमरे में बैठे वह बालकृष्णजी के लिखे अग्रलेख को प्रेस में देने के लिए देख रहे थे। मैं मेज की दूसरी ओर की कुर्सी पर बैठा उन्हें कार्यमग्न देख रहा था। इतने में बगल के अपने कमरे से बालकृष्णजी आकर उनके सामने खड़े हो गये। गणेशजी काम में दत्तचित्त थे, उनका ध्यान उनकी ओर नहीं गया। तब बालकृष्णजी ने धीमी आवाज में 'दद्दा' या 'दादा' कहकर उनका ध्यान आकृष्ट किया। गणेशजी ने उनकी ओर देखा तो झिझकते हुए बालकृष्णजी ने बताया कि 'वर्तमान' पर पुलिस ने छापा डाला है और रमाशंकर अवस्थी की अनुपस्थिति में (उन्हें शायद पुलिस गिरफ्तार कर

चुकी थी) मनमानी कर रही है। 'अच्छा, अभी जाता हूँ !' कहकर अग्रलेख को ज्यों-का-त्यों छोड़ गणेशजी तत्काल उठ खड़े हुए और चप्पलों में पाँव डालते हुए उसी समय वहाँ जाने को बाहर निकल पड़े।

उनके जाने के बाद बालकृष्णजी ने जो तुकबन्दी बनाकर एक तरह नाचना-सा शुरू किया वह तो मज़ेदार था ही, पर महत्त्व की बात यह थी कि 'वर्तमान' 'प्रताप' का एक तरह प्रतिद्वन्द्वी था और रमाशंकरजी ने अचानक 'प्रताप' छोड़ उसे निकाला था। बालकृष्णजी जब माखनलाल चतुर्वेदी से मिलने जबलपुर आये थे उस समय की यह बात है। इसीलिए सूरत से कानपुर जाते हुए वहाँ रुकने पर माखनलालजी ने जब एक-दो दिन और जबलपुर रुकने के लिए उनसे कहा तो वह एकदम भड़क उठे थे : रमाशंकर ने 'प्रताप' के विरुद्ध ऐसा काम किया है और दद्दा (गणेशजी) की ऐसी मुसीबत में तुम मुझे यहाँ रुकने को कहते हो ! उन्हीं बालकृष्ण और गणेशजी का रमाशंकरजी (अथवा कहिए कि 'वर्तमान') के संकट में ऐसा रुख निश्चय ही बहुत बड़ी बात थी।

'स्वदेश' के लिए गोरखपुर पहुँचने पर गणेशजी के इन गुणों का और भी परिचय मिला। लेकिन उनका वर्णन तो उस समय के लिए ही छोड़ अभी इतना ही कह सकता हूँ कि गणेशजी के साथ या 'प्रताप' में काम किये बगैर ही मैंने उनसे बहुत-कुछ सीखा और उन्होंने जितना प्रभावित-प्रेरित मुझे किया उतना अन्य किसी ने नहीं। उन्हीं के साथ खत्री हाईस्कूल में श्री श्रीनिवास शास्त्री का भाषण सुनने का भी मुझे अवसर मिला और गणेशजी के साथ मैंने भी शास्त्रीजी से हाथ मिलाया, जो मेरे लिए ऐसा सर्व-प्रथम अनुभव था।

इसी समय गणेशजी के एक अन्य गुण को भी मैंने देखा। भाषण के बाद शास्त्रीजी से प्रश्नोत्तर हुए तब मैंने देखा, गणेशजी स्वयं ख़ामोश रहे और बालकृष्णजी तथा दूसरे लोग ही प्रश्न करते रहे। कुछ प्रश्न तो, मैंने देखा, गणेशजी से चुपचाप परामर्श करके भी किये गये। इससे मुझे स्पष्ट हुआ कि ख़ुद पीछे रहकर दूसरों को आगे लाने की उनकी प्रवृत्ति है। दूसरों को बढ़ाने का इससे बढ़कर भला और क्या तरीका हो सकता है ?

गणेशजी का भक्त तो मैं था ही। भाषा, शैली, आदर्श सभी के अनुकरण की इच्छा स्वाभाविक थी; फिर इस गुण को भी अपनाने की इच्छा क्यों न होती। मैंने सोचा, जब मुझे अवसर मिलेगा तब मैं भी ऐसा ही करूँगा। किया कितना, यह मेरे आगे के साथी ही बता सकते हैं।

■

'तरुण राजस्थान' और 'स्वदेश' ५

'प्रणवीर' के वाद मेरे कई साल ऐसे वीते जिनमें काम तो पत्रकारिता का ही करता रहा, पर किसी एक जगह या एक पत्र में लगातार काम नहीं किया।

'माधुरी' के वाद मैं अजमेर आया, जहाँ मामाजी (शंकरलाल जी) आ चुके थे और राजस्थान सेवक संघ के मुखपत्र 'तरुण राजस्थान' में काम कर रहे थे। 'प्रणवीर' में काम करते हुए भी आमातिसार (डिसेण्ट्री) का आक्रमण होने पर मैं अजमेर आया था और लगकर इलाज वहीं हुआ। नागपुर छोड़ने का एक कारण आमातिसार की बीमारी भी थी, जो कम-बढ़ रूप में काफ़ी दिन तक तंग करती रही।

राजस्थान सेवा संघ रियासतों और खास कर राजपूताना के देशी राज्यों की प्रजा की सेवा के लिए बना था। श्री (अब स्वर्गीय) विजयसिंह पथिक ने अपने कुछ सहयोगियों के साथ उसकी नींव डाली थी। श्री रामनारायण चौधरी उसके मंत्री थे और सर्वश्री शोभालाल गुप्त, ब्रह्मचारी हरि, लादूराम जोशी, माणिक्यलाल वर्मा, साधु सीताराम दास आदि आजीवन-सदस्य। 'तरुण राजस्थान' संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही निकाला गया था, जिसके मामाजी संपादक थे। पथिकजी उन दिनों उदयपुर में बन्दी थे, मुकदमा चल रहा था। संस्था का मुख्य दायित्व चौधरीजी पर था। वह इस तरह कार्य करते थे कि भाईचारे का वातावरण रहता था। चौधरीजी और शोभालालजी संपादन और व्यवस्था में योग देते थे, अन्य कार्यकर्त्ता मुख्यतः बिजौलिया में तथा अन्यत्र काम करते थे।

सेवा संघ की उन दिनों रियासतों में धाक थी। पथिकजी से रियासती शासक और राजा लोग आतंकित थे। उनके जीवन को उनकी बनायी इस कविता से कुछ जाना जा सकता है:

यश वैभव सुख की चाह नहीं,
परवाह नहीं जीवन न रहे।
यदि इच्छा है यह है
जग में स्वेच्छाचार दमन न रहे॥

यही संघ के मुखपत्र का उद्देश्य-वाक्य था। 'एक राष्ट्रीय आत्मा' के नाम से पथिकजी कविताएँ करते थे। 'प्रताप' में कुछ पढ़ी भी थीं। जीवन उनका रहस्यपूर्ण था।

यह तो बहुत बाद में पता चला कि असल में वह उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले के निवासी और जाति के गूजर थे, मूल नाम भूपसिंह था और सिकन्दराबाद में स्वर्गीय डॉ० शान्तिप्रसाद भटनागर तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री के वे स्कूली सहपाठी थे। उस समय लोग उन्हें राजपूत ही समझते थे और उनकी वीरता की अनेक कहानियाँ प्रचलित थीं। कर्मठता और सेवा-भावना तो स्पष्ट थी ही।

चौधरीजी मारवाड़ी अग्रवाल थे और जयपुर राज्य के निवासी, प्रसिद्ध देशभक्त अर्जुनलालजी सेठी से देशभक्ति में दीक्षित हुए थे। उनकी लेखन-क्षमता और कार्य-कुशलता से भी ज़्यादा प्रभाव उनके सद्व्यवहार और अपनेपन की भावना का पड़ता था।

शोभालालजी बिजौलिया में पढ़ते हुए ही पथिकजी के चक्कर में आ गये थे। छत पर कबड्डी या कुश्ती सीखते हुए गिरकर एक हाथ जर्जर कर चुके थे। बाद में अजमेर में भी स्कूल में तथा निजी तौर पर उन्हें पढ़ाया गया। वह बड़े सेवाभावी, गुपचुप काम करने वाले थे।

ब्रह्मचारीजी भजन गा-गाकर लोगों को आकर्षित करते थे; जन-जागृति के साथ-साथ लोगों की शिकायतों-तकलीफ़ों का पता लगाकर लाते। बच्चों और परिवारों में एक हो जाना उनका स्वभाव था।

साधु सीतारामजी और माणिक्यलालजी ने बिजौलिया में खूब काम किया, जबकि लादूरामजी सीकर की तरफ प्रचार तथा अन्य कार्य करते थे। लादूरामजी की सेवा-भावना तो तभी देखी थी, पर सन् १९३२ के आन्दोलन के समय जब जेल में साथ रहे तब उनके पाण्डित्य की भी अच्छी झाँकी मिली। आज भी उनका प्रफुल्ल, तत्पर और संस्कृत साहित्य की गहन जानकारी देनेवाला रूप स्मरण है।

इस वातावरण ने मुझे आकृष्ट किया और उधर से अपनेपन के खुले हाथ ने। मैं घर पर रहा, संघ में भी रहा; नौकर रहा, नौकर नहीं भी रहा; पर जब तक अजमेर रहा या इस-उस काम के बाद आता तब तक सेवा संघ एक तरह मेरा घर ही था और 'तरुण राजस्थान' का जो काम मैं करना चाहता या चौधरी जी कराना चाहते वह करता।

'स्वदेश' का स्थानापन्न संपादक

'तरुण राजस्थान' के इस वातावरण में रहते हुए सबसे पहले मैं गोरखपुर के साप्ताहिक 'स्वदेश' में गया। सहायक संपादक की आवश्यकता का विज्ञापन देख मैंने प्रार्थनापत्र भेजा था और तुरंत बुलावा आ गया। जब जाने लगा तो चौधरीजी ने रोका और 'तरुण राजस्थान' में ही बने रहने को कहा, पर नियुक्ति पत्र आ जाने पर

न जाना ठीक न लगा। जब मैं उधर चला गया तब पीछे से चौधरीजी ने 'स्वदेश' के संपादक और स्वामी दशरथ प्रसाद द्विवेदी को पत्र लिखा कि मुझे वापस 'तरुण राजस्थान' में भेज दें।

'माधुरी' की तरह 'स्वदेश' में भी मैं काफी देर से पहुँचा। इस बीच मेरी ओर से निराश होकर या आसन्न गिरफ्तारी की आशंका से वाराणसी से श्री रामनाथ 'सुमन' को उन्होंने बुला लिया था, पर आगरा से मैंने वहाँ पहुँचने का तार दिया तो उसे पाकर उन्होंने सुमनजी को लौटा दिया और मेरी प्रतीक्षा करने लगे। संयोग की बात कि लखनऊ में गाड़ी लेट होने से गोरखपुर की गाड़ी छूट गयी और रुपये-पैसों का बटुआ ग़ायब हो जाने से दूसरे दिन रात को मैं गोरखपुर पहुँचा, सीधे स्वदेश-कार्यालय न जा स्टेशन पर ही सराय में पड़ा रहा। दिन निकलने पर सामान वहीं छोड़ पैदल कार्यालय पहुँचा तो पता चला कि दशरथजी शाम को गिरफ्तार हो चुके हैं। तब इक्के पर बैठ सीधे कोतवाली जाने पर ही उनसे मेरी मुलाक़ात हुई।

गोरखपुर का यह समय ऐसी हालत में अल्पकालिक ही रहा, पर जीवन पर उसने अपनी अमिट छाप छोड़ी। कार्यालय में श्री भगवती प्रसाद तिवारी मुझे मिले, जो दफ्तर का काम करते थे; उनके साथ ही कोतवाली जाकर दशरथजी से मिला और सामान लेकर दफ्तर आया। दशरथजी की अनुपस्थिति में स्वभावतः वह व्यवस्थापक और मैं संपादक हुए। संपादक के रूप में पहली बार तभी 'स्वदेश' में मेरा नाम छपा, यद्यपि मैंने रखा उसे 'स्थानापन्न' रूप में ही।

अब स्वदेश कार्यालय मेरा घर था। चौबेजी जो दशरथजी के गाँव के थे और रेलवे में नौकरी करते थे, वह जैसे दशरथजी को खाना बनाकर खिलाते वैसे ही प्रेम से मुझे बनाकर खिलाते। वह ब्राह्मण थे, इसलिए मैंने खाकर अपने जूठे बर्तन माँजने चाहे तो उन्होंने हाथ पकड़ लिया और कहा कि ऐसा हम नहीं करने देंगे। डिसेण्ट्री का भूत अब भी सिर पर था, नहाने से पहले कई बार शौच जाता, पर यहाँ तो मैं अकेला काम करनेवाला और सवेरे से ही कम्पोजिटर आ जाते। ऐसी हालत में शौच के बजाय मैटर तैयार करने को फिक्र। दोपहर के दो-ढाई तक बज जाते तब कहीं नहा-धोकर खाने की फुर्सत मिलती। चौबेजी कई बार टोकते, फिर खाना रखकर दफ्तर चले जाते।

'स्वदेश' का काम बन्द नहीं हुआ, बल्कि नये उत्साह से मैं उसमें जुट पड़ा। कांग्रेस अंक भी शान से निकला, इससे लोग तो खुश हुए, पर सरकार को यह पसंद न था। प्रत्यक्ष प्रहार वह दशरथजी की गिरफ्तारी से कर चुकी थी, अब अप्रत्यक्ष प्रहार किया गया। वह यह कि 'स्वदेश' पर कर्ज था—जिनका कर्ज था उनसे स्वदेश प्रेस और

कार्यालय पर ताला डलवा दिया गया। मैं इसमें कुछ न कर सकता था। गणेशजी को लिखा। उन्होंने कुछ प्रयत्न जरूर किया, पर एकदम वह फल नहीं दे सकता था। इसके बाद भी मैं वहाँ बना रहा तो मुझ पर भी सरकार का प्रहार हुआ।

गोरखपुर के अनुभव

'स्वदेश' के कार्य काल का मेरे पत्रकार जीवन में इसलिए महत्त्व है कि बिना किसी की छाया या सहायता के संपादक का दायित्व सर्वप्रथम वहीं निबाहा। अपने ही प्रयत्न से अनजान जगह में परिचय का दायरा बढ़ाया, यहाँ तक कि राजनीतिक या अन्य कारणों से दशरथजी से जो अलग रहते थे उन कांग्रेस वालों का स्नेह भी मैंने प्राप्त किया। हीनता की भावना कम होने में भी मदद मिली, क्योंकि सब कुछ अपनी ही सूझ-बूझ से अपने आप करना पड़ता था। उन दिनों डायर्की या द्वैधशासन था, कॉलेज के विद्यार्थी मिले और अपने प्रोफेसर के बजाय मेरे समझाने से उनका समाधान हुआ तो मन को लगा कि मैं भी कुछ जानता हूँ।

जिन लोगों से संपर्क बना उनमें श्री महावीर प्रसाद पोद्दार को मैं पहला स्थान देता हूँ, क्योंकि वह बहुत खरे और बेलौस आदमी हैं। हिन्दी पुस्तक एजेंसी के रूप में कलकत्ता में पुस्तक-प्रकाशन का व्यवसाय वह कर चुके थे, प्रेमचन्दजी को सर्व प्रथम हिन्दी में लाने का श्रेय गणेशशंकरजी के साथ उन्हें भी है। गणेशजी के वह परम भक्त थे। यों उन दिनों महात्मा गांधी, सेठ जमनालाल और जयदयाल गोयनका के सिवा शायद किसी के लिए उनके मन में श्रद्धाभाव नहीं था, पर गणेशजी एक बार आये तो उनके गोरखपुर से रवाना होने तक वे बराबर साथ रहे और जो स्नेह-भाव उनके प्रति उनका देखा वह भूला नहीं जा सकता।

बाबा राघवदास से इसी समय परिचय हुआ। बाबाजी बरहज के परमहंस-आश्रम में रहते थे, पर गोरखपुर आते रहते थे। गोरखपुर वह स्वदेश कार्यालय में ही ठहरा करते या और कहीं ठहरते तो आते थे। कच्ची मूँगफली और गुड़ उनका आहार था। पैसों का सौदा। भगवती प्रसाद तिवारी मैनेजर ठहरे, वही मंगवाते और हम भी उनके साथ खाते। महाराष्ट्रीय होते हुए भी बाबाजी ने उत्तर प्रदेश को अपनाया, मराठी के बजाय हिन्दी को बढ़ाने का काम किया और गीता-प्रचार तथा जन-सेवा में जीवन लगाया। उन दिनों उनका नियम था कि सबेरे एक लेख जरूर लिखते, चाहे वह मराठी से अनुवाद ही क्यों न हो। स्वभाव के निर्मल, सादगी और सद्व्यवहार के मूर्त रूप। उनका स्नेह था कि एक बार आश्रम से औषधि युक्त आँवले का मुरब्बा बनवाकर भेजा और मेरे गोरखपुर छोड़ने के बाद भी वैसा ही स्नेह बनाये रहे। बयालीस के आन्दोलन में अपने एक खास आदमी को किसी काम से मेरे पास भेजा था।

पं० भगवती प्रसाद दूबे गोरखपुर में मुख्तार थे और कांग्रेस-आन्दोलन में नेहरूजी आदि के साथ लखनऊ-जेल में रह चुके थे। मेरे साथ उनका बड़ा स्नेह हो गया था। साधु वासवानी की किताबें हम लोग पढ़ते। अक्सर वह दफ्तर आते या मैं उनके घर जाता। खाना कभी वह हमारे साथ दफ्तर में खा लेते, पर अक्सर मैं उनके साथ उनके घर पर खाता। मुकदमा चलने पर उन्होंने ही मेरी पैरवी भी की थी। बाद में एक बार श्री जगन प्रसाद रावत के साथ लखनऊ में उनसे भेंट हुई, जब वह वृद्ध से लगे पर मिले स्नेह से ही। उस वक्त वह एम० एल० ए० या एम० एल० सी० थे।

साधुशरणजी से मेरा परिचय पोद्दारजी की गाढ़े की दूकान पर हुआ, पर उनके व्यवहार ने मुझे अब भी उन्हें भूलने नहीं दिया। वह जिला कांग्रेस के अध्यक्ष थे और दशरथजी से बहुत नहीं बनती थी, पर मेरे गिरफ्तार होने पर तेज़ बुखार में भी मुझसे मिलने कोतवाली आये और जरा भी न घबराने की प्रेरणा दी। उन्हीं के कारण 'स्वदेश' बन्द होने पर मैं कांग्रेस-कार्यालय के ऊपर के कमरे में रहने लगा था और वहीं से गिरफ्तार भी हुआ था।

याद तो और भी कई की आती है, पर दफ्तर का कुछ जिक्र जरूरी है। मैटर तैयार करने से प्रूफ देखने तक सारा काम अकेले मुझे करना होता था। 'स्वदेश' में दशरथ-जी की एक विशेषता थी कि पैरे की अंतिम पंक्ति अधूरी न रहे, इसलिए प्रूफ के वक्त ही घटा-बढ़ाकर पंक्ति पूरी करते थे। कांग्रेस-अंक की अधिकांश सामग्री, जैसे कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास, कांग्रेस के उतार-चढ़ाव आदि स्वयं तैयार की और बाहर से मँगाये लेखों का संपादन-संशोधन भी सब अकेले दम किया।

मेरी गिरफ्तारी का मुख्य कारण तो दशरथजी के बाद 'स्वदेश' को न चलने देना था, पर जाहिरा इसलिए हुई थी कि मैं गणेशजी से मिलने कानपुर गया तो सत्यभक्त-जी ने अपनी 'बोलशेविज्म क्या है ?' पुस्तिका की कुछ कापियाँ मुझे दे दी थीं कि पत्र बेचने वालों को देकर बिकवा दूँ। जो व्यक्ति उसे बेच रहा था उससे वह पुलिस इन्सपेक्टर ने छीन ली। एजेण्ट मेरे पास आया तो मैंने कुछ गर्मी से कहा होगा कि वह ऐसा कैसे कर सकते हैं, वह जप्त तो है नहीं। कुछ देर बाद कोतवाल मेरे पास आये। वह मुसलमान थे, पर तिवारीजी के साथ पढ़े होंगे। बड़े अपनेपन से उन्होंने मुझे बताया कि इन्सपेक्टर साहब बड़े नाराज हैं और गिरफ्तार करेंगे, आपको किसी से मिलना हो तो मिल लें। मैंने कहा, कोई बात नहीं। मिल तो भगवती प्रसाद दूबेजी से ही सकता था, जो मुख्तार और मित्र भी थे। उन्हीं के साथ दूबेजी से मिलने मैं नीचे उतरा और चौराहे तक गया हूँ कि इन्सपेक्टर साइकल से आते हुए रुके और मुझे गिरफ्तार कर लिया।

गिरफ्तारी के बाद मेरे कमरे पर आये और तलाशी ली। आपत्तिजनक चीज तो कोई थी नहीं, मेरे ट्रंक में गीता मिली तो उसे ही क्रान्तिकारी बताने लगे। मैंने हँस-कर कहा, ऐसा है तो ले जा सकते हैं। हिन्दी पुस्तक एजेंसी की कुछ पाठ्य पुस्तकों को जप्त बता रहे थे, इतने में पोद्दारजी आ पहुँचे और कहा कि ये जप्त नहीं हैं। खैर, तलाशी की खानापूरी के बाद वह मुझे गिरफ्तार कर रात को कोतवाली ले गये।

हवालात में बन्द होने का मेरे लिए यह पहला अवसर था, पर इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं हुई। दूसरे दिन सबेरे साधुशरणजी और तिवारीजी कोतवाली में मुझसे मिले और उसी दिन पहली पेशी हुई, जिसमें तावक्ते मुकदमा मैं जमानत पर छोड़ दिया गया। मुकदमे का अपना मजा रहा, क्योंकि अदालत का कमरा खचाखच भरा था और जिला कांग्रेस की कार्यकारिणी के सदस्य का यह बयान सुनकर हँसी आये बिना न रही कि किताब जप्त न की जाती तो भारी तहस-नहस हो जाता। मुकदमे की कई पेशियाँ हुई और मुझसे एक साल के लिए नेकचलनी की जमानत चाही गयी। 'स्वदेश' बन्द हो जाने से मुझे वहाँ रहना नहीं था, इसलिए गणेशजी ने मुझे जमानत के झंझट से मुक्त होने की सलाह दी। उन्होंने जमानत का इन्तजाम भी कर दिया था, पर मैंने कहा कि मैंने बदचलनी क्या की जो नेकचलनी की जमानत दूँ। जेल का मुझे शौक नहीं था, पर आ ही पड़े तो बचने की चिन्ता भी नहीं थी। आखिर कई पेशियों के बाद सरकार ने मुकदमा उठा लिया और तब मैं वापस अजमेर गया।

गणेशजी का प्रोत्साहन

इस बीच की कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक है। एक तो मुकदमे के समय मैंने देखा कि वकील पर ही निर्भर रहना ठीक नहीं। सम्बन्धित धाराओं का अध्ययन कर अपना लिखित बयान स्वयं मैंने तैयार किया था। दूसरे, जिन पर हम बहुत आशा रखते हों उनके बजाय अप्रत्याशित स्थान से ज्यादा मदद मिलती है। इस सम्बन्ध में जिन्होंने प्रेस पर ताला डाला था उनके भाई नवलकिशोरजी वकील (अब शायद बैरिस्टर) और पोद्दारजी के अलावा हिन्दू सभा के रायबहादुर नारायण दास का मैं खास तौर पर उल्लेख करूँगा, जिन्होंने परिचय न होते हुए भी गिरफ्तारी पर सहानु-भूति-सहायता का संदेश भेजा था। और गणेशजी का तो कहना ही क्या, उन्होंने एक ओर जमानत का प्रबंध किया और दूसरी ओर अखबारी हलचल के साथ-साथ पं० कृष्णदत्त पालीवाल से प्रान्तीय असेम्बली में भी इस मामले को उठवाया। सम्भवतः इन्हीं बातों का परिणाम हुआ जो आखिर मुकदमा उठा लिया गया।

गणेशशंकरजी के परदुःखकातर स्वभाव की झाँकी तो मुझे 'वर्तमान' की तलाशी के वक्त ही मिल चुकी थी, यहाँ उसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। मैं जब गोरखपुर पहुँचा

तो दशरथजी की गिरफ्तारी के कारण श्री सुरेन्द्र शर्मा को उन्होंने मेरे पास भेजा। उनके साथ भेजे पत्र में (जो शायद मेरे लिए उनका सर्वप्रथम पत्र था) मुझे सलाह दी गयी : घबराने की जरूरत नहीं। बस, इतना खयाल रखो कि जब किसी के बारे में लिखो तो यह समझकर लिखो कि वह तुम्हारे सामने ही बैठा है और तुमसे जवाब तलब कर सकता है।

पत्रकारिता के दायित्व-निर्वाह के लिए यह कितनी बहुमूल्य सलाह है, यह कहने की जरूरत नहीं। पर इससे भी ज्यादा प्रभावित किया उनकी इस बात ने कि दशरथ-जी की अनुपस्थिति में उनकी पत्नी और उनके परिवार को कोई ऐसी तकलीफ न होने दी जाय जिससे उन्हें बचाया जा सकता हो। उनके घर का हाल पूछा और बाद में खर्च के लिए कुछ नियमित व्यवस्था भी की, इसके बाद वह स्वयं गोरखपुर आये और जेल में दशरथजी से भेंट की तथा उनके नाश्ते और दवा की व्यवस्था करायी।

■

६

अविस्मरणीय यात्रा

यह बात सन् १९२५ की है। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी जेल में दशरथजी से मिलने के बाद तुरन्त स्टेशन लौटकर रेलगाड़ी द्वारा श्रीप्रकाशजी से मिलने चल दिये, जो 'आज' के सम्पादक थे और एक तहसील-कॉनफ्रेंस का सभापतित्व करने गोरखपुर जिलांतर्गत एक गाँव में उस दिन आये हुए थे। हम लोग जो गणेशजी के स्वागतार्थ स्टेशन गये थे, उनके साथ जेल तक ही नहीं गये बल्कि उस गाँव जाकर लौटने के बाद गणेशजी को कानपुर की गाड़ी में बिठाने तक बराबर उनके साथ रहे। यह यात्रा हुई तो आकस्मिक, परन्तु जिस तरह हुई उससे वह अविस्मरणीय है।

स्टेशन पर ही गणेशजी नहा-धोकर निवृत्त हुए और सीधे जेल गये। वहाँ दशरथजी से मिलकर उनके स्वास्थ्य तथा दवा-दारू की जरूरत का पता लगाया, साथ ही पत्नी तथा घर की हालत के बारे में जानकारी ली, बाद में अपने तरीके से उसकी व्यवस्था भी की।

इसके बाद शुरू हुई उनके साथ हमारी यात्रा। मेरे और गणेशजी के अलावा साथ में 'स्वदेश' के व्यवस्थापक श्री भगवती प्रसाद तिवारी तथा स्थानीय कांग्रेसकर्मी श्री बलि-करण मिश्र और गणेशजी के अभिन्न मित्र महावीर प्रसादजी पोद्दार थे। पोद्दारजी से मेरा सम्पर्क पहले ही हो चुका था और गणेशजी से उनके सम्बन्ध का भी मुझे पता था, परन्तु यह इसी यात्रा में पता चला कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध कितना प्रगाढ़ और स्नेहयुक्त है। पोद्दारजी यों बड़े खरे व्यक्ति हैं, अविनयी न होते हुए भी बिना श्रद्धा के किसी के प्रति आदर का दिखावा वह नहीं करते और ऐसा आदर बिरलों के प्रति ही मैंने उनमें पाया, परन्तु गणेशजी के प्रति मैंने उन्हें ऐसा अनुरक्त पाया कि भौंचक्का रह गया। खाना उन्हीं के यहाँ से बनकर आया था और गणेशजी के गोरखपुर आने से कानपुर के लिए रवाना होने तक वह बराबर उनके साथ ही नहीं रहे, उनके हर काम के लिए सबसे आगे होते और उनका आपस का मुक्त वार्तालाप खत्म होने का नाम ही नहीं लेता था।

यात्रा की मजेदार बात यह थी कि गणेशजी के सिवा बिस्तर किसी के साथ नहीं था, क्योंकि यह किसी को पता नहीं था कि इस सवेरे से दूसरे सवेरे तक यात्रा में रहना होगा; अतः गाँव से लौटते समय जब रात हो गयी तो बैलगाड़ी में उसी में से किसी ने

कम्बल और किसी ने चादर लेकर काम चलाया। बैलगाड़ी रास्ते में भटक गयी, जिससे रेलवे-स्टेशन आने तक गाड़ी छूट चुकी थी और उस छोटे-से स्टेशन के बाहर एक पेड़-तले रात को हम सब लोग लेटे-बैठे तो पोद्दारजी को अपना काम अपनी धोती से ही चलाना पड़ा था। उसके बाद रात में किसी वक्त एक गाड़ी के स्टेशन पर आते ही दौड़कर हम उसमें चढ़ तो गये, परन्तु जब गाड़ी चलने को हुई तो ऊँघते हुए एक यात्री ने पूछा; 'भैया, छपरा आ गया क्या ?' तब हम चौंके और कहा तो यही कि गाड़ी छपरा नहीं गोरखपुर जा रही है, पर मन असमंजस में पड़ गया और पूछ-ताछ करने पर पता चला कि हम ही गलती पर थे, तब चलती गाड़ी से झटपट उतरे और गोरखपुर की गाड़ी आने तक वहीं इन्तजार किया।

इस बीच रेल में या अन्यत्र जो बात-चीत चलती रही वह उद्बोधक ही नहीं प्राणों में संजीवनी फूंकने वाली भी थी। असहयोग आन्दोलन में जेल गये कांग्रेस-नेताओं की लखनऊ-जेल की बातें हुई, मैनपुरी-षड्यन्त्र के कैदियों के किस्से चले, अशफाकुल्ला के जवाँमर्दी के जेल-जीवन की बातें हुई और जेल की 'तिकड़म' की मजेदार चर्चा। खुद गणेशजी के साथ एक बार जेल में कैसी बीती, यह भी सुना। सब कुछ ऐसे ढंग से चला कि गुजरते वक्त का पता ही नहीं चलता था, उकताने की तो बात ही कहाँ ?

गणेशजी के साथ बीती घटना ही बताना यहाँ प्रासंगिक होगा, जो कुछ इस प्रकार थी : जेल में तिकड़म से अख़बार पहुँचते थे और कभी-कभी हलवा तक बन जाता था। ऐसे समय राउण्ड (गश्त) पर सुप्रीण्टेण्डेण्ट या कोई अफसर आ जाता तो अख़बार छिपा लिये जाते तथा हलवा बन रहा होता तो बैरक के पाखाने में पहुँच जाता। इन्स-पेक्टर जनरल (शायद क्लीमेंट नाम था) गणेशजी को ऐसे किसी काम में पकड़ पाने को उत्सुक था। एक दिन, जब रविवार की छुट्टी का दिन था और आराम से बैठ अख़बार पढ़े जा रहे थे, अचानक वह आ धमका। तब कोई उपाय सूझता न देखकर अखबारों का पुलिन्दा कमर की तरफ धोती में खोंसा और कम्बल ओढ़कर उसे छिपा लिया। क्लीमेंट ने आकर इधर-उधर ताका-झाँका और उन्हें उस वेश में देख खूब हँसा। कहा, वाह ! क्या कहने हैं, बस चिमटे और खड़ताल की कसर है।' गणेशजी के होश गुम, अन्दर की कुलमुलाहट वही जानें, पर रहे सुस्थिर और उपहास को खामोशी से सहा। आखिर दो-तीन बार खूब ताक-झाँक कर क्लीमेंट जब चला गया तब जाकर जान में जान आयी। इस घटना को जिस तरह उन्होंने सुनाया, हम सब हँसते-हँसते लोटपोट हो गये।

साहित्यिक चर्चा भी चली। उन्हीं दिनों गांधीजी का एक लेख मलाबार की स्त्रियों

के बारे में निकला था, जिसमें उन्होंने मलाबारी स्त्रियों को मेमने की तरह कोमल (अंग्रेजी शब्द शायद 'लवली' था) बताया था । पोद्दारजी ने कहा कि गांधीजी का यह मुहावरा कुछ ठीक नहीं लगा । इस पर गणेशर्जा ने उन्हें जो दो टूक जवाब दिया वह भी दोनों के अथाह स्नेह-सम्बन्ध को ही सूचित करता था । इसी बातचीत में पता लगा कि मुंशी धनपतराय जो वस्तुतः उर्दू लेखक थे, कैसे प्रेमचन्द के रूप में हिन्दी में आये और किस तरह 'उपन्यास-सम्राट' बने । पोद्दारजी के करिश्मे तभी मालूम हुए, जिन्हें इसमें गणेशजी का पूर्ण सहयोग उपलब्ध था । स्मरण रहे कि प्रेमचन्दजी की पुस्तकें हिन्दी में सर्वप्रथम उन्हीं की हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से निकली थीं और बंगला उपन्यासकारों के समकक्ष हिन्दी के उपन्यास-सम्राट के रूप में कलकत्ता में ही उन्हें प्रस्तुत किया गया था ।

इस यात्रा की नौबत क्यों आयी, यह भी एक ऐसा प्रसंग है जिससे गणेशजी की महानता का बोध होता है । बात यह थी कि काशी (वाराणसी) का 'आज' जो हिन्दी में बड़ी साधन-सम्पन्नता से निकला था, आर्थिक कठिनाइयों में ग्रस्त हो गया था और उसके बन्द होने की चर्चा थी । गणेशजी का अपना पत्र 'प्रताप' था, जिसको 'आज' का प्रतिस्पर्धी कहा जा सकता था और 'आज' की प्रतिस्पर्धा ऐसी साधन-सम्पन्नतापूर्ण थी जिसका 'प्रताप' के पास अभाव था । फिर भी अपने स्वार्थ के बजाय यह चिन्ता गणेशजी को हुई कि हिन्दी के 'आज' जैसे उच्च कोटि के पत्र का अन्त नहीं होना चाहिए । इसीलिए श्रीप्रकाशजी से, जो 'आज' के सम्पादक और शिवप्रसाद गुप्तजी के अन्तरंग मित्र थे, यह निवेदन करने वह इतना कष्ट उठाकर उस गाँव गये कि 'आज' बन्द नहीं होना चाहिए । और यह निवेदन केवल दिखावा नहीं था, इसके साथ उसके लिए साधन जुटाने के दृढ़ संकल्प की सूचना भी थी ।

इस तरह गणेशजी क्षुद्र स्वार्थ के बजाय सार्वजनिक हित या लोक-कल्याण की दृष्टि रखते थे । इसीलिए उन्होंने कभी यह नहीं देखा कि अमुक व्यक्ति गांधीवादी हैं, तिलक-अनुयायी हैं या क्रांतिकारी; यह भी जरूरी नहीं कि हर एक उनके विचारों का ही अनुगामी हो; जो भी देश के लिए काम करता हो, जिस पर अन्याय-अत्याचार हो और जो कष्ट में हो, उसकी सहायता को उनका वरद हस्त सदा तत्पर रहता था । द्वेष या प्रतिहिंसा की भावना तो उनमें थी ही नहीं । इसीलिए अपने विरोधी के आपतकाल में वह उसके सहायक हो सकते थे, जैसा कि बावला-हत्याकाण्ड के समय इन्दौर महाराज का साथ देकर उन्होंने बताया, हालांकि इन्दौर राज्य में 'प्रताप' पर उस वक्त बन्दिश थी ।

इसी तरह साम्प्रदायिक भावना से वह मुक्त थे । हिन्दू-मुसलमान उनके लिए एक

ही भारत माता के हाथ-पैरों की तरह थे और १९३१ की २५ मार्च को कानपुर में हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगे में मुसलमान-हिन्दू दोनों को ही आततायियों से बचाते हुए वह शहीद हुए। गणेशजी का इस तरह अचानक वियोग यद्यपि राष्ट्र के लिए वज्रपात था, परन्तु जिस तरह की मृत्यु उन्होंने पायी वह राष्ट्र के लिए गौरवपूर्ण हो गयी, क्योंकि उसने साबित कर दिया कि कथनी के अनुरूप ही उनका जीवन रहा। इसीलिए राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने उनकी मृत्यु को 'शानदार' कहा और उनके परिवार को 'शोक-संदेश के बजाय बधाई का पात्र' बताया। कराची में उन्हीं दिनों कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था, उसने भी इस बात पर 'अभिमान' ही प्रकट किया कि "प्रथम श्रेणी के एक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता ने खतरे में पड़े हुए लोगों के उद्धार तथा घोर उपद्रव और उन्मत्त उत्तेजना के समय शांति-स्थापना के प्रयत्न में अपने को बलिदान कर दिया।" साथ ही इस बात को सर्वमान्य किया कि "विद्यार्थीजी अत्यंत स्वार्थत्यागी देशसेवकों में से थे और साम्प्रदायिक राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होने के कारण सभी दलों और सम्प्रदायों के प्रेम-भाजन हो गये थे।"

'स्वदेश' में काम करते समय मेरे गिरफ्तार होने पर विद्यार्थीजी ने श्री शिवचरणलाल शर्मा को तुरन्त गोरखपुर भेजा। उनके द्वारा प्रेषित पत्र में मुझे जमानत देने की सलाह दी थी। शिवचरणलालजी काकोरी षड़यंत्र के सधे हुए व्यक्ति थे, इसीलिए उन्हें मेरे पास भेजा था।

गणेशजी का उस समय का एक संस्मरण और बताये बिना नहीं रहा जा सकता :

गोरखपुर आया तो मैं तनख्वाह पर ही था, पर जिस स्थिति में पहुँचा उसमें तनख्वाह की बात ही नहीं रही। गणेशजी के गोरखपुर आने पर जब वह कानपुर लौटने लगे तब स्टेशन पर बहुत झिझकते हुए मैंने कहा, तनख्वाह का क्या होगा? इस पर जानते हैं उनका क्या जवाब था—'नौजवान होकर तुम तनख्वाह की बात करते हो!' मेरे काटो तो खून नहीं। शर्मिन्दा ही नहीं हुआ, पछतावा भी हुआ कि ऐसी बात मैंने क्यों कही।

जैसे-तैसे किराये का इंतज़ाम कर (कुछ कर्ज़ लेकर) मैं गोरखपुर से लौटा। रास्ते में कानपुर गणेशजी से मिलकर जाना अवश्यम्भावी था। 'प्रताप' कार्यालय से जब उनसे विदा लेने लगा तब क्या देखता हूँ कि चुपचाप कुछ नोट उन्होंने मेरी जेब में डाल दिये। मेरा ध्यान गया तो आग्रहपूर्वक मैंने लौटाये और बताया कि मैंने इंतजाम कर लिया है।

इस प्रकार गणेशजी के व्यवहार में मैंने देखा कि आदमी की जरूरत को वह समझते थे, यही नहीं उसे पूरी करने की कोशिश भी करते थे, पर उसमें कोई बुरी प्रवृत्ति पैदा नहीं होने देना चाहते थे। यही उनकी सबसे बड़ी खूबी थी, जिसके कारण जिन पत्रकारों के संपर्क में मैं आया उनमें सर्वश्रेष्ठ उन्हीं को अब भी मानता हूँ। मिशनरी पत्रकारिता के वह सर्वश्रेष्ठ नमूना थे और अपने आसपास ऐसा ही गुण फैलाना मानो उनका जन्मजात संस्कार था।

■

बम्बई के खट्टे-मीठे अनुभव ९

'स्वदेश' का स्थानापन्न संपादक रहने के बाद बंबई में मुझे 'भारतविजय' के संपादक के रूप में कार्य करने का अवसर मिला। इस प्रकार मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के बाद बंबई की महानगरी के अनुभव का लाभ हुआ।

'भारतविजय' साप्ताहिक था, जिसका प्रकाशन दादर (बम्बई) से राजा बहादुर बालकृष्ण लाल हीरालाल कम्पनी ने किया था। विज्ञापन में ऐसा नाम पढ़ और मैनेजर की जगह कुँवर नाम देख मैंने प्रार्थना पत्र भेजा। नियुक्ति पत्र पाकर मैं उसके लिए बम्बई गया और, जैसा पत्र-व्यवहार में तय हो चुका था, कम्पनी के पास ही एक मकान के ऊपर का पूरा फ्लैट मुझे रहने को मिला। वही मेरा निवासस्थान और कार्य-स्थान रहा।

किसी महानगर की अपेक्षा छोटी जगहों में अब तक मैं रहा था, इसलिए बम्बई की चमक-दमक से चौंधिया जाना आश्चर्य की बात न होती। लेकिन जल्दी ही मुझे पता लग गया कि ऊपरी चमक-दमक के पीछे स्थिति नरक-तुल्य है। कम्पनी के आदमियों ने मुझे बताया कि फ्लैट का दरवाज़ा खुला नहीं रखना चाहिए, क्योंकि कभी भी कोई दुर्घटना हो सकती है। सबसे ज्यादा आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब मालूम हुआ कि जीवन से तंग आकर लोग आत्महत्या के लिए बाध्य होते हैं और खुला द्वार देख वहीं आ मरे तो गृह-स्वामी की फ़जीहत होती है।

एक दिन स्टेशनरी के लिए कम्पनी के एक आदमी के साथ शहर गया तब की बात है, या 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' के संपादक के रूप में कार्य कर रहे मामाजी के भरतपुर के सहपाठी श्री निरंजन शर्मा 'अजित' से मिलने गया तब की। मैं खेतवाड़ी में से जा रहा था, अपने साथी से बातचीत में मग्न था, अचानक उन्होंने मुझे सावधान किया—'यहाँ होशियारी से चलना चाहिए। यहाँ वेश्याओं के अड्डे हैं, जिनके दलाल लोगों को फुसलाकर और कभी-कभी ज़बरदस्ती भी वेश्याओं के पास ले जाते हैं। पुलिस वाले रहते हैं, पर सब मिली भगत होती है और यहाँ आने वाले भी बहुत से तो नीम-राजी ही होते हैं। अनजानों की बड़ी दुर्गत होती है; उनके रुपये-पैसे सब छीन लिये जाते हैं और रोते-पीटते वे यहाँ से जाते हैं।'

मैंने नज़र उठाकर देखा तो सचमुच सड़क के दोनों ओर वेश्याओं के ठट्ठ थे और

खोलियों (कोठरियों) के जंगलों के पीछे से झाँकते हुए चेहरों के साथ कभी-कभी रुपये-पैसों की सौदेबाजी की आवाज़ भी कानों में पड़ती थी। बड़ा वीभत्स दृश्य था वह ! पुलिस वाले भी थे, पर सौदा चल रहा था और हर दो मकानों के बीच की गलियों में वेश्याओं के ठट्ठ लग रहे थे।

यह मैं कम्पनी में पहले ही देख चुका था कि तनख्वाह पाने के बाद कर्मचारी अक्सर दो-तीन दिन के लिए गायब हो जाते और जब आते तो खर्च के लिए इस-उससे कर्ज़ की माँग करते थे, जिसका कारण बम्बई का यह आम रिवाज बताया गया कि लोग यहाँ अक्सर बिना परिवार के रहते हैं, इसलिए पैसा हाथ में आते ही वेश्याओं की शरण जाते हैं और जब पैसा खत्म हो जाता है तभी काम-धन्धे की सुध उन्हें आती है। इसलिए मुझे सचमुच डर लगा और फिर पैदल कभी उधर से मैं नहीं गया। ट्राम में बैठा अलबत्ता उधर से गुज़रा और जब-जब गुज़रा तब-तब वही वीभत्स दृश्य दीखा।

खुद पत्र-स्वामी की माया भी मुझसे छिपी न रही। न वह राजाबहादुर थे, न बालकृष्ण लाल। वह सिर्फ़ हीरालाल थे और 'राजाबहादुर बालकृष्ण लाल हीरालाल' नाम की सफ़ाई यह थी कि वह वैष्णव थे; बालकृष्ण की पूजा करते थे, इसलिए अपने नाम के पहले उनका (बालकृष्ण) नाम न दें तो कैसे चले ? और भगवान् बालकृष्ण के पहले कम से कम राजाबहादुर तो होना ही चाहिए। मैनेजर के कुँवर साहब होने की बात भी इसी तरह की थी, पूर्वी उत्तर प्रदेश के वह रहने वाले थे और जाति से कुम्हार थे, सो कुम्हार का कुँवर साहब तो होना ही चाहिए।

व्यक्तिगत चरित्र भी इन लोगों का संदेह से परे न था। मन्दसौर की एक महिला और उसकी अल्पवयस कन्या उनके साथ रहती थी। बताया गया कि पहले उस महिला से सेठजी का सम्बन्ध था, कहने को वह अब भी उन्हीं के साथ रहती थी, पर अब मन से उतर चुकी थी और अल्पवयस लड़की नजरों में चढ़ी हुई थी, लड़की की माँ कुँवर साहब के मन चढ़ी हुई थी। सच-झूठ ईश्वर जाने, पर कोई पाँच-छह बरस बाद मैं बम्बई गया तो पता चला कि सेठजी ने उस कन्या से विवाह कर लिया था।

इन व्यक्तिगत बातों से मुझे क्या लेना-देना, पर बम्बई के जीवन की एक झलक प्रस्तुत करने के लिए इनका ज़िक्र करना पड़ा है।

अखबारी जिन्दगी

अख़बार का जहाँ तक सम्बन्ध था, उसमें मैं स्वतंत्र था। किसी का कोई दखल उसमें नहीं था, बल्कि सच पूछो तो दखल देने लायक कोई व्यक्तित्व था ही नहीं। फलतः अपनी नीति ही मैंने पत्र की नीति रखी, जैसा कि अब तक काम किये पत्रों में मैं देखता आया

था। राष्ट्रीयता के साथ-साथ बम्बई के कृष्ण पक्ष को सामने लाने का मैंने बीड़ा उठाया। अंग्रेज़ी, गुजराती, मराठी पत्रों से बम्बई की ऐसी बातों का संकलन करके मैं देता, जिससे बम्बई की चमक के चक्कर में आने से लोग बचें।

बम्बई के 'बॉम्बे क्रॉनिकल' का नियमित पाठक तो मैं वर्धा, नागपुर में भी रहा था, बम्बई में 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' भी नियम पूर्वक पढ़ा और उसी स्थान से निकलने वाले संध्याकालीन 'ईवनिंग न्यूज' का अपने पत्र के लिए सामग्री चयन करने में काफी उपयोग किया। 'एडवोकेट ऑफ़ इण्डिया' के रविवासरीय 'सण्डे एडवोकेट' या 'संडे स्टैण्डर्ड' से भी मुझे खूब मदद मिलती थी, जो उसके संपादक श्री इन्दुलाल याज्ञिक की कृपा से 'भारतविजय' के परिवर्त्तन में आने लगा था। मराठी 'लोकमान्य' और 'नवा काल' के अलावा गुजराती के 'साँझ वर्तमान' को भी नियमित रूप से यहीं मैंने पढ़ा। 'भारतविजय' के लिए सामग्री चयन करने में थोड़ा-बहुत सभी का उपयोग करता था।

पत्र का आरम्भ मेरे बम्बई पहुँच जाने पर ही हुआ था, अतः प्रारम्भ में 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में काम कर रहे श्री विश्वम्भर प्रसाद शर्मा के कुछ सहयोग के अलावा सम्पादन का सारा काम अकेले मुझको ही करना पड़ता था। फिर भी पत्र का स्वागत हुआ और वह बढ़ने भी लगा। लेकिन पत्र की ग्राहकसंख्या-वृद्धि पत्र-स्वामी के लिए खुशी के बजाय परेशानी की बात हुई।

वह इसलिए कि वस्तुतः पत्र में उनकी रुचि नहीं थी, उसे निकाला उन्होंने इसलिए था कि दिवाली पर सूचीपत्र भेजने से उन्हें ४०-५० हजार के आर्डर मिल जाते थे। उन्होंने सोचा, साप्ताहिक पत्र में हर सप्ताह विज्ञापन के रूप में वह सूचीपत्र जानें से उसी हिसाब से नहीं तो भी कई गुनी बिक्री तो बढ़ ही जायगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। कुछ चीजें वे बाजार से सामान लाकर अपने यहाँ कूट-पीस कर तैयार कराते थे, घड़ियों आदि के आर्डर प्राप्त कर कमीशन पर बाज़ार से सप्लाई करते थे। उनकी बिक्री जब विशेष नहीं बढ़ी तो अखबार की ग्राहकसंख्या बढ़ना उनके खर्च का और बढ़ना था। यह वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

उन्होंने तरकीब सोची—पत्र को साप्ताहिक से मासिक कर दें तो चौथाई खर्च तो बच ही जायगा। मेरे सामने प्रस्ताव रखा और कहा : आप अजमेर रहते हुए ही उसके संपादन का काम करते रहें। ऐसा करने से फ़्लैट के भाड़े आदि खर्चों से उन्हें मुक्ति मिल सकती थी और बाद में अख़बार बन्द कर सभी खर्च बचा लेने की सुविधा।

मैंने प्रस्ताव को स्वीकार करने से इन्कार किया और कहा कि मैं तो साप्ताहिक का ही काम कर सकता हूँ, जिसके लिए आया हूँ। पत्र साप्ताहिक न रहने पर मैंने उससे संबंध न रखने का निश्चय प्रकट किया और पत्र-व्यवहार में तय हुई शर्तों के अनुसार एक महीने की तनख्वाह तथा अजमेर का किराया देकर मुक्त करने को कहा।

क्षणिक अन्तराल

'भारतविजय' के संपादन का काल इस तरह लम्बा नहीं रहा। तीन या साढ़े तीन महीनों में बम्बई में पत्रकारिता का अनुभव समाप्त हुआ और मेरे पत्रकार जीवन में एक अन्तराल भी आया, यद्यपि वह लम्बा नहीं रहा।

अजमेर से जब मैं बम्बई के लिए चला था तो संयोग या सौभाग्यवश सेठ जमनालाल बजाज का साथ हो गया। वह अजमेर आये हुए थे और वहाँ से महात्मा गांधी के पास साबरमती आश्रम होते हुए बम्बई जा रहे थे। अजमेर से मैं भी उनके साथ ही चला और अहमदाबाद उतर कर उनके साथ सत्याग्रह-आश्रम भी गया। वहाँ कारणवश उन्हें कुछ रुकना पड़ा, इससे मैं उनसे अनुमति ले, साबरमती स्टेशन आ बम्बई उनसे पहले चला आया। उनसे हुआ यह संपर्क बम्बई में भी कायम रहा और बम्बई के अपने निवास काल में मैं उनसे बराबर मिलता-जुलता रहा।

जमनालालजी को यों मैं 'राजस्थानकेसरी' के वक्त से जानता था, पर निकट संपर्क उनसे इसी समय हुआ। वह सचमुच देशभक्त थे और पूरी तरह मनुष्य। पढ़े-लिखे बहुत न होने पर भी व्यवहार-बुद्धि के कारण गांधी-युग के नेतृवर्ग में अग्रणी और बेजोड़ रहे। सेठ होने पर भी धन का मोह उन्होंने न रखा और मानो गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्तानुसार अच्छे कामों के लिए उसे खर्च करने को उसके संरक्षक मात्र रहे। बात-चीत में शालीन और पूरी तरह सहृदय, जब भी मिलते दुःख-दर्द की बात पूछे बिना न रहते। उनका अपनापन हृदय को छुए बिना न रहता।

जमनालालजी के यहाँ जाते-आते रहने से उनके निकटवर्त्ती कुछ लोगों से भी संपर्क हुआ। नेवटियों के यहाँ उनकी लड़की ब्याही थी, उनके दामाद रामेश्वरजी के छोटे भाई श्रीगोपाल नेवटिया साहित्यिक रुचि भी रखते थे; श्रीगोपालजी से मेरा विशेष संपर्क हुआ। उनके साथ मैं कई बार माटुंगा के उनके मकान भी गया और रात को भी वहाँ रहा, विलेपार्ले की उनकी एल्युमिनियम फैक्टरी गया और उन्हीं के साथ शान्ताक्रुज़ में आनन्दोलाल पोद्दार के यहाँ जाकर पं० रामशंकर त्रिपाठी से भी मुलाकात की, जो उन दिनों पोद्दारों के यहाँ किसी को पढ़ाते और वहीं रहते थे। मेरा काफी निकट संपर्क वहाँ हो गया था। माटुंगा के अपने मकान में उनका खींचा हुआ मेरा फोटो अभी भी मेरे पास है।

मदनलालजी (श्री मदनलाल जालान) तथा मारवाड़ी समाज के कुछ अन्य उत्साही नवयुवक कार्यकर्त्ताओं के संपर्क में भी मैं आया। राजस्थानी कार्यकर्त्ता कन्हैयालाल कल-यंत्री से भी मिला। कुछ अन्य व्यक्ति भी संपर्क में आये, जिनके नाम इस समय याद नहीं आ रहे। गोविन्दलाल पित्ती से भी बालकेश्वर के समुद्र तटवर्त्ती सुन्दर मकान में मैं मिला था।

इन संपर्कों के कारण बम्बई में मेरा मन लग चला था। चौपाटी का समुद्र-तट तथा मलाबार हिल से चमकती रोशनी में बम्बई के दृश्य भी मुझे अच्छे लगते थे। कमाई की भी वहाँ काफी संभावना थी। फिल्म वालों के कुछ काम की बात मेरे पास आयी। नासिक से कोई सज्जन मारवाड़ियों के लिए हिन्दी में एक छोटा मासिक पत्र निकालना चाहते थे, उसके काम को बम्बई में रहते हुए ही करने का प्रस्ताव भी आया। मैंने यह कुछ किया नहीं, पर करना चाहता तो हिन्दी के काम की उस समय काफी गुंजाइश थी।

अचानक 'भारतविजय' से संबंध छोड़ने की बात जब उठी तो मदनलालजी और श्रीगोपालजी ने बम्बई न छोड़ने के लिए कहा। मेरी इच्छा तो नहीं थी, पर उनके कहने पर मारवाड़ी अग्रवाल कोष का काम मैंने स्वीकार किया। कोष से जरूरतमन्द मारवाड़ी युवकों को पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति मिलती थी, उसका हिसाब रखना, उस संबंध में पत्र-व्यवहार करना, छात्रवृत्ति समय पर भिजवाना और छात्रवृत्तियों की सदुपयोग संबंधी जाँच-पड़ताल करते रहना मेरा काम था। श्रीगोपालजी इस कोष के संयुक्त मंत्री थे।

कोष का कार्यालय कालबादेवी में मारवाड़ी लाइब्रेरी वाली इमारत में था। मैं इन दिनों कालबादेवी पर ही नेवटियों की पेढ़ी पर रहने लगा था, जहाँ मदनलालजी आदि उनके यहाँ काम करनेवाले लोग भी रहते थे और पेढ़ी के ही बासे में हम सब खाना खाते थे।

मारवाड़ी पेढ़ी का यह मेरा पहला अनुभव था। रात को वहाँ बिछी गद्दियों पर ही हम सब सोते थे और सबेरा होते ही शौच-स्नान से निवृत्त हो अपने-अपने काम पर लग जाते। पाखाना फ़्लश का था, पर परिपाटी यह थी कि पाखाने में जाने पर नहाना ही पड़ता था। खाना प्रायः रोज एक-सा, दाल बिना घी की और रोटी खूब चुपड़ी हुई, द्वादशी के दिन खिचड़ी भी बनती। किसी खास प्रकार के खाने का आग्रह मुझे कभी नहीं रहा, इसलिए कोई परेशानी नहीं हुई।

निवास और कार्य-स्थान सड़क के आर-पार होने से सीढ़ियाँ उतरने-चढ़ने के सिवा और कोई परेशानी भी नहीं थी। सट्टे का दृश्य, सटोरियों की चीख-पुकार भी यहीं पहले-पहल मैंने देखी, जो काम करता हुआ खिड़की से मैं देखता रहता था।

कोष के काम में कोई कठिनाई नहीं थी, वेतन भी ठीक था, पर वस्तुतः मेरा मन उसमें नहीं था। एक बात ने मेरे मन को और उचटाया।

मारवाड़ी विद्यालय में कोष की (शायद कार्यकारिणी की) बैठक थी। कार्यालय में इंचार्ज होने से रजिस्टर आदि सामान के साथ मुझे भी उसमें जाना पड़ा। श्रीगोपालजी

भी संयुक्त मंत्री होने के नाते बैठक में थे। मुझे आश्चर्य हुआ कि जिन श्रीगोपालजी का मुझसे इतना सौहार्द-संपर्क था वह बैठक समाप्त होते ही चुपचाप चले गये; मुझसे न साथ चलने को कहा, न कोई बात की।

इसमें अस्वाभाविक शायद कुछ नहीं था; पर मालिक-नौकर के भेदभाव को तब तक मैंने नहीं जाना था, क्योंकि सर्वत्र अपनेपन का ही संबंध रहा था। मैं यह सोच ही नहीं सकता था कि मंत्री के नाते अब वह मेरे मित्र नहीं मालिक हैं। इसलिए कुछ अच्छा नहीं लगा। फिर उस समय बारिश भी हो रही थी और दफ्तर का सामान मेरे साथ था, इसलिए ट्राम से जाना भी कुछ कठिन था।

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार के मानवीय व्यवहार ने ऐसे समय मुझे हमेशा के लिए उनका प्रशंसक बना दिया। उस समय मेरा उनसे कोई परिचय न था, पत्रकार के बजाय उस समय कोष का वेतनभोगी कार्यकर्त्ता होने के कारण कार्यकारिणी के उन सम्मान्य व्यक्ति के लिए (जो उस समय वहाँ के प्रतिष्ठित व्यापारी थे) मेरी ओर ध्यान न देना ही स्वाभाविक था; पर 'कल्याण' संपादक के रूप में आध्यात्मिकता के लिए बाद में जो उनकी ख्याति हुई उसके बीज उनमें तब भी मौजूद थे। अतः उनके सहृदय मन ने मेरी परेशानी को अनुभव ही नहीं किया, मुझसे जाने का ठिकाना पूछकर अपनी मोटर में साथ ले कालबादेवी के ठिकाने तक मुझे छोड़ गये।

उदर विकार भी स्प्रू के रूप में बम्बई में शुरू हो गया था।

मैंने बम्बई छोड़ने का निश्चय कर लिया। विभिन्न स्थानों में जाकर छात्रवृत्तियों की जाँच करने के लिए मुझे कहा गया था। पहले तो मैंने मना किया; पर फिर राजस्थान से उसकी शुरूआत के लिए तैयार हुआ। लेकिन स्वास्थ्य और मन साथ न होने से जोधपुर, नसीराबाद, अजमेर आदि कुछ स्थानों में वह काम करके मैंने उसको छोड़ देना ही ठीक समझा। फलतः किये काम की रिपोर्ट तैयार करके और इस काम के लिए लाये रुपयों को हिसाब करके लौटाकर पत्रकारिता के क्षेत्र में पड़े क्षणिक अन्तराल को समाप्त कर दिया।

■

पत्रकार-जीवन में नया मोड़ ७

(१)

'स्वदेश' और 'भारत-विजय' के बाद मेरे पत्रकार जीवन में एक नया मोड़ आया, जिसने पत्रकारिता के साथ-साथ साहित्य-सर्जन की ओर भी प्रवृत्ति उत्पन्न की। अंग्रेजी मुहावरे में मैं इसे अपने पत्रकार-जीवन में मील का पत्थर (माइलस्टोन) कह सकता हूँ, पर अपने मुहावरे में इसे नया मोड़ कहना ही ठीक लगता है। यों लिखने की अभिरुचि पहले से थी और कोई १९१८ से मैं कुछ-न-कुछ लिखता रहा हूँ, विभिन्न पत्रों में मेरे लेख छपे भी थे, पर अब कुछ ऐसे प्रसंग हुए कि अनुवादक और लेखक के रूप में पुस्तकों पर नाम जाने का सुयोग भी उपलब्ध हुआ।

बंबई के बाद लगभग साल भर ऐसा बीता होगा जब पत्रकारिता से संपर्क तो बना रहा पर स्थिर रूप से मैं किसी पत्र में नहीं रहा। अजमेर और राजस्थान सेवा संघ तो एक तरह घर ही ठहरा, पर था मैं लगभग खाली ही।

इस बीच खादी-कार्य के सिलसिले में श्री हरिभाऊ उपाध्याय का कार्यक्षेत्र अजमेर हो गया और सस्ता साहित्य मण्डल का श्रीगणेश भी हुआ, जो सत्साहित्य और खासकर गांधी-साहित्य के प्रामाणिक एवं सस्ते प्रकाशन के लिए था। श्री जीतमल लूणिया मण्डल के मन्त्री थे और शुरू में वही एक छोटी-सी दूकान में उसका काम देखते थे, जिनके द्वारा गुजराती 'भारतना स्त्रीरत्नो' नामक ग्रन्थ के 'भारत के स्त्री-रत्न' नाम से मण्डल से निकलने वाली पुस्तक के अनुवाद का काम मिला। प्रथम भाग के कुछ स्त्री-चरित्रों का अनुवाद काशी के श्री रामचन्द्र वर्मा ने किया था, कुछ मामाजी शंकरलाल वर्मा ने; शेष अधिकांश अनुवाद मैंने किया।

दूकान पर तो जीतमलजी ही बैठते थे, हरिभाऊजी का भी मण्डल से सम्बन्ध था; बल्कि शायद नीति-नियामक वही थे और जीतमलजी व्यवस्था के जिम्मेदार थे। हरिभाऊजी से मिलना तो होता रहता था, पर उतना घनिष्ठ सम्बन्ध तब तक नहीं था जितना बाद में हो गया। एक दिन क्षेमानन्दजी राहत ने बातों ही बातों में उनसे मिलने के लिए मुझसे कहा। कारण उन्होंने कुछ नहीं बताया, पर मिलने पर जोर देते रहे। राहतजी चूँकि राजस्थान सेवासंघ में पहले रहे थे, इसलिए उनसे निकटता-सी

थी। उन दिनों वह अलग मकान में रहते थे और शायद हिन्दी और प्रताप-जयन्ती का काम करते थे।

राहतजी की अपनी विशेषता थी। प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में पढ़े थे, डा० ताराचन्द के छात्र रहे थे और देशसेवा से प्रेरित हो हिन्दी-प्रचार के लिए मद्रास चले गये थे। हिन्दी-प्रचार के लिए जो हिन्दी साप्ताहिक वहाँ से निकलता था उसके सम्पादक रहे थे और राष्ट्रीय आन्दोलन में मद्रास की जेल में भी रहे। तमिल उन्होंने वहीं सीखी थी और जेल जीवन का उपयोग तमिल के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तिरक्कुल' का हिन्दी-अनुवाद करने में किया था, जो वाद में सस्ता साहित्य मण्डल से 'तमिल वेद' के नाम से प्रकाशित हुआ। मद्रास में ही श्री नरसिंहदास अग्रवाल के संपर्क में वह आये, जो वहाँ केमिस्ट की दूकान करते थे और आन्दोलन के चक्कर में अच्छा चलता धन्धा छोड़ खादी-काम के लिए राजस्थान आ गये थे तथा सब कुछ त्याग देने के कारण 'बाबाजी' (बाबा नरसिंहदास) कहलाते थे। उन्हीं के साथ राहतजी भी अजमेर आये।

राहतजी मूलतः साहित्यिक व्यक्ति थे और आध्यात्यिक वृत्ति मानो उनके स्वभाव में थी। कविता भी करते थे, इसी से 'राहत' तखल्लुस या उपनाम था। पहले से या प्रताप-जयन्ती का काम उठा लेने के कारण स्वाभिमान और आन उनमें खूब थी। पोशाक शुभ्र। खादी की टोपी, कुर्त्ता और धोती रोज स्वयं धोते और आजकल की तरह प्रेस (इस्तरी) का बहुत रिवाज न होने पर भी बगुले की तरह बिल्कुल साफ और बिना सिलवटों के उनके कपड़े होते। उस पर डाढ़ी उनकी भव्यता को और बढ़ाती। हँसते तो खुलकर, बात करते तो तन्मयता से, या फिर किसी विचार में खोये हुए खामोश।

कुछ तो उनके स्वभाव और अतीत से ही उनकी ओर मेरा आकर्षण था। फिर जात-पाँत का यद्यपि कोई खयाल नहीं था, लेकिन यह पता चला कि वह भी कायस्थ ही हैं और हमारी तरह भटनागर ही, तो सम्भवतः इससे भी कुछ झुकाव हुआ होगा। मैं अक्सर उनके यहाँ और उनके साथ घूमने भी जाता रहता था। उनके कहने पर हरिभाऊजी से मिलने जाना स्वाभाविक था।

जीवन और जागृति की पत्रिका 'त्यागभूमि' में

हरिभाऊजी से जब उनके घर जाकर मिला तो पता चला कि सस्ता साहित्य मंडल से मासिक 'त्यागभूमि' निकालने का निश्चय किया गया है और उसमें वह मुझे सहायक के रूप में चाहते हैं। वह और राहतजी उसके सम्पादक होनेवाले थे।

मुझ ख़ाली आदमी के लिए स्वभावतः यह आकर्षक प्रस्ताव था। लेकिन मासिक पत्र का ज्यादा अनुभव तो मुझे था नहीं, फिर गांधी-अनुरक्त होते हुए भी मुझे आशंका

हुई कि उन-जैसे गांधीवादी के साथ मैं चल सकूँगा या नहीं। इस आशंका का एक कारण मेरा राजस्थान सेवा संघ वालों से सान्निध्य और उनकी रीति-नीति कुछ उग्र होना भी था। मैंने स्पष्ट अपनी कठिनाई रखी और जब वह वेतन की बात करने लगे तो मैंने यही कहा कि पहले देख लें कि मैं चल भी सकूँगा या नहीं। आखिर इसी आधार पर उन्होंने मुझे मासिक 'त्यागभूमि' की तैयारी का काम सौंप दिया, जो कोई तीन महीने बाद विजयादशमी, संवत् १९८४ से अस्तित्व में आयी।

'त्यागभूमि' 'जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका' थी। इसी का द्योतक उसका यह आदर्श-वाक्य था :

आत्मसमर्पण होत जहँ, जहाँ शुभ्र बलिदान।
मर मिटने को साध जहँ, तहँ हैं श्री भगवान॥

और 'नेति-नेति' शीर्षक कविता से प्रथमांक का प्रारंभ किया गया था, जिसमें ये पंक्तियाँ भी थीं :

हाँ, अंतस्तल का अंतिम कण तक मातृ-चरण अर्पण कर दें!
वह अमर भिखारी द्वार खड़ा है, उसकी भी झोली भर दें!

अग्रलेख में हरिभाऊजी ने बताया था : "त्यागभूमि केवल बुद्धि की भूख बुझाने नहीं आयी है, बल्कि आत्मा को बल देने के लिए आयी है।" इसी भावना से ओत-प्रोत होकर हम लोग कार्य करते थे।

जैसा मैं बता चुका हूँ, 'त्यागभूमि' का काम करने की जब मुझसे बात चली, मुझे आशंका थी कि मैं उसका काम कर सकूँगा या नहीं, अथवा यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि हरिभाऊजी के साथ मेरी पटेगी या नहीं। लेकिन कुछ संयोग ऐसे हुए कि शुरू से ही उसका काम मेरा ऐसा काम हो गया जिसमें अवरोध और कठिनाई का आभास ही नहीं हुआ; बल्कि सच कहो तो उसी में मैं रम गया और ऐसा आनन्द आने लगा जैसा उससे पहले तो नहीं ही आया था, उसके बाद भी शायद ही आया हो।

हरिभाऊजी पहले अंक की तैयारी के वक्त अक्सर कार्यवश बाहर रहे और राहत-जी का यह हाल कि जो कुछ उन्हें सुनाया वह सुन लिया। सुनकर कुछ नोट या पद्य के नीचे 'स्वगत' लिख दिया, या जो उन्हें लिखना होता—कविता या लेख, सम्पादकीय टिप्पणी आदि—वह लिख देते; बाकी सम्पादन-संशोधन, क्रम आदि से उन्हें खास सरोकार नहीं। प्रारम्भ में लेख आदि हरिभाऊजी ने ही मँगाये, बाद में तो मैं स्वयं भी यह काम करने लगा और जब सुमनजी (स्वर्गत श्री रामनाथ 'सुमन') आ गये तो वह भी करते।

'त्यागभूमि' में स्तम्भों का विशेष स्थान था। स्त्रियों के लिए 'आधी दुनिया', किशोरों के लिए 'उगता राष्ट्र', स्वास्थ्य के लिए 'हमारा स्वास्थ्य', विदेशी घटनाओं के लिए 'विश्व दर्शन'; इसी तरह आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक प्रभृति विविध विषयों के स्तम्भ थे। 'आधी दुनिया' तो फिर बढ़कर एक-तिहाई से ज्यादा स्थान लेने लगा था।

श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी से स्नातक होकर पत्रकारिता का ज्ञान प्राप्त करने राजस्थान सेवा संघ में आये थे, तब से मेरा उनसे परिचय था। इन दिनों वह प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के यहाँ काम करते थे, उनका आंशिक सहयोग भी हरिभाऊजी ने प्राप्त किया। इतिहास के लेख एक बार उन्हें दिखा लेते थे, विश्व-दर्शन और देश-दर्शन के साथ-साथ आर्थिक स्तम्भ वह तैयार करते थे। सुमनजी आये तब से साहित्य का स्तम्भ उन्होंने शुरू किया, पर सामग्री समय पर प्रेस को देने और उसके संशोधन आदि का लगभग पूरा दायित्व मुझ पर था।

'आधी दुनिया' और 'उगता राष्ट्र' का पूरा दायित्व मेरा होने से, जैसे हरिभाऊजी हर मास मुख्य अग्रलेख लिखते, मुझे 'आधी दुनिया' के लिए स्त्रियों सम्बन्धी किसी विषय पर अग्रलेख तैयार करना होता और स्त्रियों सम्बन्धी घटनाओं पर टिप्पणियाँ लिखनी पड़तीं। स्त्रियों सम्बन्धी अच्छे लेख जुटाना भी आसान नहीं था, जो आते उन्हें ज्यादातर नया रूप देना पड़ता और कुछ खुद ही छद्म नामों से तैयार करने होते। 'उगता राष्ट्र' को भी ऐसा बनाना था, जिससे उगती पीढ़ी प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त करे। उसमें भी अनुवाद, संकलन के अलावा खुद भी लिखना पड़ता। यों श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी उसमें काफी लिखते थे, आज जयपुर-विश्वविद्यालय में राजनीति के प्रोफेसर डॉ० शान्तिप्रसाद वर्मा के प्रेरक गद्यगीत भी उसमें अक्सर होते और साधु वासवानी तो मानो हमारे आदर्श ही थे।

महनत तो निश्चय ही खूब होती, पर खुद भी उन्हीं भावों में लीन होने से उसका अपना आनन्द था। फिर लेख-टिप्पणियों के नीचे नाम देने की प्रथा से आत्मविश्वास बढ़ने के साथ-साथ शोहरत भी जरूर मिली।

कहने की जरूरत नहीं कि यह सब सम्भव हुआ हरिभाऊजी के विश्वास और उनकी पसन्दगी पर। पहले अंक के वक्त ही बहुत कुछ अपने आप काम करना पड़ा, फिर तो उनका ऐसा आश्वासन रहा कि उनकी लिखी चीज भी कहीं अटकी तो उन्होंने उस पर बुरा नहीं माना। अपने लिखे लेख निश्चय ही एक बार उन्हें अवश्य दिखाता था, जिन्हें उन्होंने पसन्द किया तभी छपे और मेरा उत्साह एवं आत्मविश्वास बढ़ा।

(२)

'त्यागभूमि' में मैंने निर्बाध काम ही नहीं किया, स्त्री-समस्या के अध्ययन का अवसर भी मिला। हर महीने 'आधी दुनिया' के अग्रलेख के रूप में लिखे जानेवाले अध्ययन-

पूर्ण लेखों के कारण ही, बहुत कुछ उनके संकलन के ही रूप में, मेरी सर्वप्रथम मौलिक पुस्तक 'स्त्री-समस्या' सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित हुई। परिस्थितियों वश यद्यपि अब वह अनुपलब्ध है, मगर जिन्होंने उसे पढ़ा है उनकी सराहना से मैं वंचित नहीं रहा।

अनेक महिलाओं से उन्हीं दिनों मेरा पत्र-व्यवहार हुआ और मेरे 'राखी के संदेश' पर, जो 'त्यागभूमि' में राखी के अवसर पर छपा था, उस समय की कुमारी लज्जावती, प्रिंसिपल लीलावती झँवर, तोरणदेवी लली, विद्याधरी जौहरी आदि गण्यमान्य महिलाओं के बधाई सन्देश मिले थे। कइयों से भाई-बहन सम्बन्ध स्थापित हुआ और राखियाँ भी प्राप्त हुईं।

स्त्रियों की समस्याओं का तो खास अध्ययन उन दिनों किया ही, 'उगता राष्ट्र' में लिखी चीजें भी अहमदावाद के 'सस्तुं साहित्य मंडल' से प्रकाशित 'शुभ संग्रह' में संकलित हुईं। और प्रथमांक में प्रकाशित 'हनारा स्वास्थ्य' लेख ने तो मेरे लिए स्वर्गीय पारसनाथ सिंहजी के मन में घर ही कर लिया। पारसनाथजी आँकड़ों के मर्मज्ञ और साहित्य-पारखी थे। उस समय श्री घनश्यामदास बिड़ला के वे प्राइवेट सेक्रेटरी थे और उनके साथ यूरोप-प्रवास में गये थे। मेरे लेख को पढ़कर एक लम्बा पत्र उन्होंने मुझे लिखा था, जिसमें लेख की सराहना करते हुए आँकड़े की एक त्रुटि की ओर भी मेरा ध्यान आकर्षित किया। तभी से मेरा-उनका स्नेह-सम्बन्ध हुआ, जिसका ही परिणाम शायद बाद में 'हिन्दुस्तान' में मेरे आने का कारण बना। पर वह तो बाद की बात है। 'त्यागभूमि' का जहाँ तक सम्बन्ध है, घनश्यामदासजी का उससे विशेष सम्बन्ध था और उन्हें भी मेरे लेख-टिप्पणियाँ पसन्द आये थे।

अद्वितीय पत्रिका

'त्यागभूमि' मासिक रूप में बहुत समय तक नहीं रही, कुल तेतीस अंक उसके निकले और तीसरे वर्ष (संवत् १९८७) श्रावण मास में निकला उसका अंक ही सरकारी प्रहार के कारण उसका अन्तिम अंक हुआ। पर जितने समय वह निकली उसका अपना अद्वितीय स्थान रहा, जिससे स्त्रियों और युवकों तक ने प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त की। एक बार हरिभाऊजी के साथ मैं राजस्थान और मालवा (मध्यभारत) के कुछ स्थानों पर गया तो मैंने देखा, छात्रावासों में उसका पारायण होता था।

स्त्रियों की कष्ट-कथाएँ तो आती ही रहती थीं, जिनका 'आधी दुनिया' के लेखों व टिप्पणियों में उपयोग किया जाता। शान्तिप्रिय द्विवेदीजी जब मुझे मिले तो कहने लगे, "अरे! आप तो छोटे ही लगते हैं, हम तो मुकुटजी के रूप में ऐसे व्यक्ति की कल्पना

करते थे जिसके लम्बी दाढ़ी होगी।" कहने की जरूरत नहीं कि यह सब 'त्यागभूमि' के उद्देश्य में अपने को लीन कर देने का ही परिणाम था।

यों 'त्यागभूमि' से उस समय के गण्यमान्य व्यक्तियों का सम्पर्क रहा। गांधी-क्षेत्र के विद्वानों के लेख अक्सर गुजराती या अंग्रेजी में आते, जिनका हम अनुवाद करते। मैथिलीशरणजी, सियारामजी आदि की चीजें तो मिलती ही थीं, सुमनजी के आने के बाद खासकर काशी और प्रयाग के साहित्यकारों का भी पूरा सहयोग हो गया। बिड़ला-जी के मौलिक लेख 'त्यागभूमि' में छपे, जिसमें 'मुझसे सब अच्छे' ने उनके लिए मेरे मन में आदर पैदा किया। पंजाब के सरदार शार्दूलसिंह के लेख 'विद्रोह की पवित्रता' को अब भी नहीं भूल पाया। इसी तरह आचार्य विश्वबंधु आदि भी 'त्यागभूमि' के लेखक थे। दिनकरजी की कविता भी उसमें निकली और बेनीपुरीजी से तो खूब पत्र-व्यवहार होता था।

लाला लाजपत राय और पं० जवाहरलाल नेहरू भी 'त्यागभूमि' में लिखते थे। नेहरूजी के लेख अंग्रेजी में 'हिन्दू' या किसी अन्य अखबार में प्रकाशित आते थे, पर हिन्दी में उनके हाथ के लिखे सुन्दर पत्र की स्मृति अभी भी मौजूद है। और लालाजी की दिलचस्पी का तो यह हाल कि पत्र का नाम 'त्यागभूमि' देख उबल पड़े और एक लम्बे पत्र में लिखा : "आपने अपने पत्र का नाम 'त्यागभूमि' रखा है। मेरी समझ में नहीं आया, क्यों ? क्या 'त्यागभूमि' का यह अभिप्राय है कि हमारी भूमि वह है जिसको उसके पुत्रों ने त्याग दिया है, या इसका यह मंतव्य है कि हमारी भूमि में त्याग-भावना प्रधान है ?....मेरी सम्मति में आपको इसका नाम या तो स्वर्गभूमि रखना चाहिए था या नरक-भूमि।"

लालाजी ने आगे यह भी लिखा : "मेरी तो समझ में नहीं आता कि हम त्याग का स्वर क्यों अलापते हैं। हम तो बहुत त्याग कर चुके। इस त्याग ने हमारा खाना खराब कर दिया, हमको धूल में मिला दिया और हमें न घर का छोड़ा न घाट का। इस समय तो हमें पुरुषार्थ का, साहस का, हौसले का और आशा का प्रचार जरूरी है, न कि त्याग का।"

हरिभाऊजी ने लालाजी का पूरा पत्र 'त्यागभूमि' में प्रकाशित किया और बड़ी विनम्रता से उसका जवाब दिया, जिसमें और बातों के साथ लिखा : "त्याग और 'त्यागभूमि' का हमारा अर्थ और उद्देश्य केवल यही है कि देश को पराधीनता की बेड़ियों से छुड़ाने के लिए भारत का बच्चा-बच्चा अपना सर्वस्व होम देने को तैयार हो जाय। जब तक वह देश को आजाद नहीं देख लेता तब तक किसी दूसरी चीज में उसका मन न लगे। यह दर्द, यह कलंक, यह बेचैनी और यह बलिदान का भाव पैदा करना ही 'त्यागभूमि' के जीवन का लक्ष्य है।"

ऐसी भावना और केवल स्फूर्तिदायक सत्साहित्य ही देशवासियों तक पहुँचने की दृष्टि 'त्यागभूमि' की थी। जैनेन्द्रजी को सर्वप्रथम हिन्दी-संसार में प्रस्तुत करने का उसे श्रेय है, जिनकी सर्वप्रथम कहानी उसी में छपी थी। परंतु मुझे याद है, उनकी एक कहानी इसीलिए मैंने लौटायी थी कि कला की दृष्टि से श्रेष्ठ होते हुए भी जैसी भावना हम पाठकों तक पहुँचाना चाहते थे वैसी उसमें नहीं लगती थी। 'कला कला के लिए' के बजाय सोद्देश्य कला में हमारा विश्वास था।

और इस भावना का अन्त तक 'त्यागभूमि' ने निर्वाह किया, यहाँ तक कि 'त्याग-भूमि' का अन्तिम अग्रलेख भी इसी भावना से ओतप्रोत रहा। सरकारी प्रहार के सम्मुख अन्तिम अग्रलेख मैंने ही लिखा था, जिसका शीर्षक दिया था 'विजय की ओर' और उसमें 'त्यागभूमि' की अन्तिम वाणी थी : "नहीं कह सकते कि वह शुभ दिन कब होगा, जब हम विजय प्राप्त कर लेंगे; परंतु हम बढ़ उसी तरफ रहे हैं, इसमें संदेह नहीं।"

लेख में आगे मैंने लिखा था : "संसार का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गांधी इस समय हमारा मंत्रदाता है, कर्मण्य और वीर युवक जवाहर हमारा अगुआ, और सत्य-अहिंसा के ईश्वरीय अस्त्र हमारे मददगार। ईश्वर का वरद हस्त हमारे सिर पर है, संसार की पवित्र आत्माएँ हमें प्रेरणा कर रही हैं और अपना शुभ उद्देश्य हमारे साथ है। भारत के नर-नारी, बूढ़े, जवान और बच्चे तक अपने रक्त और हड्डियों से स्वाधीनता के मंदिर का निर्माण करने के लिए जूझ पड़े हैं।"

अन्त में यह स्फूर्तिदायक उद्बोधन : "तिमिर नष्ट हो रहा है, उषा अपनी लालिमा से आकाश को अरुणिमामय बनाकर शुभ्र प्रकाश की पूर्व सूचना दे रही है; वह भग-वान भुवनभास्कर चले आ रहे हैं। वह देखो, उधर एक ओर स्वाधीनता का मंदिर निर्मित हो रहा है, जिस पर शहीदों के खून से लिखा जा रहा है—**स्वतंत्र भारत**। अब विलम्ब की जरूरत नहीं। विजय की देवी माला लिये हमारी प्रतीक्षा में खड़ी है; बस जरूरत है यही कि हम किसी मायाजाल में फँसे बिना इसी दृढ़ता और साहस के साथ आगे बढ़ते रहें, जब तक लक्ष्य पर न पहुँच जायँ।"

और इस तरह 'वन्देमातरम्' के साथ 'त्यागभूमि' ने विदा ली। चालीस बरस से ऊपर हो गये उस समय को और हिन्दी-साहित्य ने न जाने कितनी उन्नति-समृद्धि कर ली है तब से अब तक, किन्तु बड़े दर्द के साथ मैं अनुभव करता हूँ कि 'त्यागभूमि' जैसी पत्रिका उसके बाद कोई नहीं निकली और बदली हुई परिस्थिति में अब निकलने की भी कोई संभावना नहीं है।

■

'त्यागभूमि' बन्द होने पर बेकारी का सामना करना पड़ता, पर सरकारी प्रहार 'त्यागभूमि' पर ही हुआ था। सस्ता साहित्य मण्डल जो 'त्यागभूमि' का प्रकाशक था वह बन्द नहीं हुआ था। इसलिए बेकार रहने का मौका नहीं आया; अन्तर सिर्फ यह हुआ कि मैं पत्र-संपादन के बजाय ग्रंथ-संपादन करने लगा।

श्री बैजनाथ महोदय मण्डल के संपादक थे, जो 'त्यागभूमि' में भी चित्र-परिचय नियमित रूप से तथा कभी-कभी लेख भी लिखा करते थे। सन् तीस (१९३०) के आन्दोलन में यों तो हम सभी मुब्तिला थे, पर प्रान्तीय कांग्रेस का सदस्य होने पर भी मैं सक्रिय नहीं था, जब कि हरिभाऊजी और महोदयजी सक्रिय थे। मामा शंकर-लालजी कांग्रेस के मन्त्री के रूप में न केवल सक्रिय थे वल्कि जेल भी जा चुके थे और उस आन्दोलन में राजस्थान में सबसे लम्बी सजा उन्हें ही मिली थी। इसलिए भी उस आन्दोलन में 'तीर्थयात्रा' की मुझे जल्दी नहीं थी। अतः महोदयजी के निर्देशन में मण्डल से प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों के संपादन का काम मैंने शुरू किया।

सदाशयी महोदयजी

महोदयजी के बारे में यहाँ कुछ बताना आवश्यक है, जिनके निरभिमान और अपनेपन ने ही मुझे प्रभावित नहीं किया बल्कि आन्दोलन में एक सिपाही की तरह कूद पड़ने ने हमेशा के लिए मुझे उनका प्रशंसक बना दिया।

हरिभाऊजी के वह विश्वासपात्र थे। वही उनको मध्य भारत से लाये थे। ज्ञान का वह प्रदर्शन नहीं करते थे, पर जिस विषय को लेते उसका गम्भीरता से अध्ययन मनन करके ही कलम चलाते थे। 'त्यागभूमि' में यदा-कदा लिखे उनके छोटे निबन्धों की अभी भी मुझे याद है, जो पाठ्य-पुस्तकों में बखूबी चल सकते हैं। चित्र-परिचय हर महीने जो वह लिखते थे उसकी अपनी विशेषता थी, जिसमें भावना और गहनता का सुन्दर समन्वय होता था। मण्डल में रहते हुए बारडोली-सत्याग्रह पर पुस्तक के अलावा 'शैतान की लकड़ी' पुस्तक भी उन्होंने लिखी, जिसमें यह विशेषता थी कि मैथुन और व्यभिचार जैसे विषय को भी ऐसे संयत रूप में लिया कि अश्लीलता न आने पायी।

हिन्दी के अलावा अंग्रेजी, संस्कृत, गुजराती, मराठी में भी उनकी पैठ थी।

'सजीव सृष्टींची उत्क्रांति' जैसी विकासवाद की वैज्ञानिक मराठी पुस्तक का मैंने उन्हीं के प्रोत्साहन और सहयोग से हिन्दी में अनुवाद किया, जो बन्दर से मनुष्य या 'जीवन-विकास' के नाम से मण्डल से प्रकाशित हुई थी। इसका अनुवाद करते समय मुझे जो परिश्रम करना पड़ा वह मैं ही जानता हूँ, परन्तु उसका लाभ कम नहीं था। मैंने विकासवाद को समझा ही नहीं, अनुवाद के अनुभव तथा 'विज्ञान' के अङ्कों का अध्ययन करके पुस्तक की जो लम्बी भूमिका लिखी उस पर मैं आज भी सन्तोषानुभव करता हूँ।

महोदयजी वय, ज्ञान और पद में मुझसे बड़े थे; लेकिन साथीपन या भाईचारे के सिवा कोई भावना उनके साथ कभी मन में नहीं आयी। अजमेर के बाद भी उनसे संपर्क रहा, दिल्ली में वह संसद-सदस्य बनकर आये और गांधी-शताब्दी के समय गांधीजी की आत्मकथा को अद्यतन बनाने के लिए सर्वोदय संघ की तरफ से हरिभाऊजी को 'गांधी-कथा' लिखने का जो काम सौंपा गया उसे पूरा कराने को भी कुछ दिन वह दिल्ली रहे। वय में वृद्धि के बावजूद उनका वही रूप, व्यवहार और सद्भाव मिला।

वह सदाशयी और शुद्धहृदय तो हैं ही, सन् तीस के आन्दोलन में मैंने देखा कि आत्मबलिदान में भी वह पग पीछे रखनेवाले नहीं थे। सत्याग्रह या कानून-भंग के लिए अजमेर में (राजस्थान-मध्य भारत का) प्रथम जत्था जो चुना गया था उसमें वह थे, पर नेता जिन्हें चुना गया था वह ऐन वक्त किसी बात पर नाराज हुए या क्या कि सभा में उपस्थित नहीं थे। सवाल यह था कि और लोग भी फिर तैयार होंगे या नहीं? उन्हें देख सभा में प्रस्तुत किसी ने उनकी प्रतिक्रिया जाननी चाही। मुझे ठीक शब्द याद नहीं, पर उनका जवाब कुछ यों था : "मैं तो सिपाही हूँ। मुझे हुक्म हुआ है तो मैं हाजिर हूँ—दूसरे हाजिर हैं या नहीं, इससे मुझे कोई मतलब नहीं।" और वह सचमुच जेल जाने को कटिबद्ध थे।

सभा में पास ही बैठे एक डॉक्टर ने, जो पंजाब से अजमेर आये थे और होमियोपैथिक चिकित्सा में नामवरी पा रहे थे, महोदयजी का जवाब सुना तो मुग्ध हो गये। पूछने लगे कि 'यह कौन हैं?' और गद्-गद कण्ठ से कुछ ऐसा कहा कि धन्य हैं ऐसे लोग! मैं जो महोदयजी से इतना परिचित था उसके लिए भी उनका यह रूप नया ही था और उनकी इस सिपाहियाना भावना तथा अनुशासनवृत्ति का मुझ पर गहरा असर पड़ा। आज भी, मैं समझता हूँ, यही भावना उनमें मौजूद है और सुविधा-सराहना की चाह किये बिना राष्ट्र की माँग पर वह बलिदान या कष्ट-सहन को कूद सकते हैं।

'आश्रम-भजनावली' में गांधीजी द्वारा संकलित प्रार्थना करने वाले मैंने अनेक देखे, मैं भी कर लेता हूँ, परन्तु उसके निम्न श्लोक की सच्ची भावना आत्मसात् करनेवाले उनके सिवा कितने हैं यह मैं नहीं जानता :

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम् ।।

(न तो मैं राज्य की इच्छा करता हूँ, न स्वर्ग की । मोक्ष की भी मुझे इच्छा नहीं । दुःख से तप्त प्राणिमात्र की पीड़ा दूर हो, बस इतना ही मैं चाहता हूँ ।)

ग्रन्थ-सम्पादन का कार्य

पुस्तकों के सम्पादन का जहाँ तक सम्बन्ध है, पत्रों और खासकर मासिक पत्र में लेखों का सम्पादन करने वाले के लिए वह कुछ भिन्न प्रकार का होते हुए भी अग्राह्य नहीं । पत्रों में विषय की सामयिकता और लेखों की लघु सीमा का ध्यान रखना पड़ता है, जबकि पुस्तक में विषय विस्तार के साथ यह देखना पड़ता है कि विषय का सांगोपांग निरूपण हुआ कि नहीं । अनावश्यक विस्तार और आवश्यक से अधिक संक्षेप भी पुस्तक को असंतुलित बनाते हैं । साथ ही प्रकाशन-मर्यादा के अनुसार पुस्तक का रूप बड़ा या छोटा करना होता है । पुस्तक नीरस न रहे, इसके लिए विषयानुकूल अध्यायों में उसका विभाजन करना भी आवश्यक है ।

पुस्तक-प्रकाशन का काम सबसे पहले (सन् १९१९) मैंने इन्दौर में श्री द्वारका-प्रसाद सेवक के यहाँ 'सरस्वती-सदन' में देखा था । स्वामी भवानीदयाल संन्यासी लिखित दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास और पं० बनारसी दास चतुर्वेदी कृत 'प्रवासी भारतवासी' मैं पढ़ चुका था । प्रवासी भारतवासियों की समस्या और उनके लिए गांधीजी द्वारा किये गये आन्दोलन को पुस्तक-रूप में सामने लाने का संभवतः यह सर्वप्रथम प्रयास था । 'सरस्वती-सदन' से ही ये पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं और जब मैं इन्दौर में था उस वक्त भी स्वामी शंकरानन्द सरस्वती-सदन में ठहरे हुए थे, जिनसे मालूम पड़ा कि दक्षिण अफ्रीका से सरस्वती-सदन का संपर्क था ।

सरस्वती-सदन के प्रति मेरा आकर्षण स्वाभाविक था और वहाँ की सफाई-सुव्यवस्था ने मुझे प्रभावित किया । मामाजी के साथ और वैसे भी कई बार मेरा वहाँ जाना हुआ । वहीं सबसे पहले प्रूफों की जन्मपत्री जैसी लम्बी-लम्बी गैलियाँ मैंने देखीं, संशोधन के बाद जिनके पृष्ठ बनकर पुस्तक-रूप में छपते थे । लेकिन सिर्फ देखा भर, उन्हें समझा नहीं और न कुछ काम ही किया ।

इसके बाद मामाजी के 'कर्मवीर' (जबलपुर) और 'राजस्थान केसरी' (वर्धा) के क्षणिक अन्तराल (सम्भवतः १९२० के आखीर या १९२१ के आरम्भ) में प्रयाग में सत्यभक्तजी की 'राष्ट्रीय पुस्तकमाला' का काम देखा, जिसमें गांधीजी के लेखों की या उनके आंदोलन को प्रोत्साहन देने वाले विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तकें संकलित कर प्रकाशित की जाती थीं । संकलन, अनुवाद, संपादन का काम देखा सही, पर खुद उसमें

कोई योग दिया हो ऐसा याद नहीं पड़ता। शौकिया कुछ काम जरूर किया, पर सिवा इसके कुछ और सीखने की याद नहीं आती कि संकलन द्वारा भी पुस्तक तैयार की जा सकती है और सामयिक हो तो वह बिक भी सकती है।

मण्डल में पुस्तक-सम्पादन, अनुवाद और संकलन का काम करने से तत्सम्बन्धी अभ्यास ही नहीं हुआ, खुद की अनूदित और लिखित-संकलित पुस्तकें प्रकाशित होने का भी आत्मसन्तोष हुआ। 'स्त्री-समस्या' (मौलिक), 'भारत के स्त्री-रत्न' (गुजराती से अनूदित) और 'जीवन-विकास' (मराठी से अनूदित) इसी समय के प्रयास हैं। सम्पादन में सबसे ज्यादा काट-छाँट तामस्करजी की पुस्तक में की थी, जिसे संशोधन के अलावा कम भी करना था।

इस अभ्यास का ही परिणाम हुआ कि सस्ता साहित्य मण्डल जब दिल्ली आ गया तो नौकरी दैनिक 'अर्जुन' में करते हुए भी उसकी पुस्तकों के सम्पादन, संशोधन तथा उसके लिए अनुवाद, लेखन आदि के कार्य मैंने किये। अजमेर में बने सम्बन्ध दिल्ली में भी रहे और मण्डल की नौकरी न करते हुए भी उसमें अपनेपन की ही भावना रही। आज भी बहुत कुछ ऐसा ही है।

मिशनरी प्रकाशक सेवकजी

ग्रंथ-सम्पादन के अनुभव लेखबद्ध करते समय सर्वप्रथम उसकी झाँकी जिन सेवकजी के यहाँ मिली उनके बारे में कुछ लिखना आवश्यक मालूम पड़ता है, क्योंकि आज वह न केवल इस क्षेत्र में नहीं हैं बल्कि जीवित होते हुए भी विस्मृतप्राय हो गये हैं।

दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतवासियों की दुर्दशा और गांधीजी की हलचलों को सर्वप्रथम पुस्तक-रूप में सामने लानेवाले द्वारकाप्रसादजी सेवक उत्तर प्रदेश में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के स्थान फीरोजाबाद के ही रहने वाले थे, पर उनके पिता डॉ० ओंकार प्रसाद नौकरी के सिलसिले में मध्य भारत आ गये थे। वह मवेशियों के डॉक्टर और आर्यसमाजी थे। सेवकजी भी कट्टर आर्यसमाजी थे। पढ़ने-लिखने, सम्पादन-प्रकाशन की रुचि उनमें कब और कैसे पैदा हुई, यह मुझे नहीं मालूम; पर कट्टर आर्य-समाजी होने के अलावा वह भावनाशील भी बहुत थे। पिता की कमाई उन्होंने सरस्वती-सदन में तथा सेवासमिति आदि के मानवीय कामों में खर्च की।

आर्यसमाजी नेता डॉ० केशवदेव शास्त्री के सेवकजी भक्त थे। उनके 'नवजीवन' के शायद वही प्रकाशक थे। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी और 'एक भारतीय हृदय' (बनारसीदास चतुर्वेदी) की पुस्तकें प्रकाशित कर गांधीजी की हलचलों को उन्होंने प्रकाशन दिया, जिससे उनकी देशभक्ति का भी पता चलता है। सुन्दर छपाई और हर चीज करीने से रखने की उन्हें धुन थी, जिसके कारण आय से खर्च अधिक हुआ और अन्त में उन्हें काम-धन्धा बन्द करना पड़ा।

प्रकाशन बन्द करने के बाद उन्होंने इन्दौर राज्य की सरकारी नौकरी की, पर वह ज़्यादा दिन निभी नहीं और उसके बाद का उनका जीवन कठिनाई तथा संघर्ष का ही जीवन रहा है। अब वह बंबई में रहते हैं और उनके पुत्र-पुत्रियाँ इधर-उधर जम चुके हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, एक पुत्री डॉक्टर है और डॉक्टर से ही ब्याही है। एक पुत्र (यतीन्द्र भटनागर) मेरे समय दैनिक 'हिन्दुस्तान' में सहायक सम्पादक के रूप में आये थे और अपनी कार्यकुशलता से उन्नति करते हुए इस समय विशेष संवाददाता हैं।

आगे बढ़ने में ही व्यस्त वर्ग अतीत पर नजर नहीं डाल सकता, यह सच है; पर जिन्हें उस समय की स्मृति है वे गांधीजी की हलचलों और प्रवासी भारत-वासियों की दुर्दशा को सर्वप्रथम पुस्तक रूप में प्रस्तुत करने वाले सेवकजी को नहीं भूल सकते। खासकर इसलिए भी कि वह जमाना ऐसी पुस्तकों से कमाई करने के बजाय अपनी पूंजी ही उसमें खर्च करने का था—कम-से-कम सेवकजी ने ऐसा ही किया और वह सिर्फ़ देशहित में आत्म-बलिदान के आत्मसंतोष के ही लिए। अब चाहे ऐसी भावना क्षीण पड़ गयी हो, पर उसकी श्रेष्ठता वंदनीय ही है।

सन् ३० का आन्दोलन ९

मिशनरी पत्रकारिता में ध्येयनिष्ठा का ही सर्वाधिक महत्त्व है और आजादी से पहले कम-से-कम हिन्दी पत्रकारिता में प्रवेश करने वाले अर्थ-लाभ से अधिक देश-सेवा में योगदान के ही अभिलाषी होते थे। इसीलिए अर्थाभाव कष्टकर होते हुए भी वह उतना खलता न था, बल्कि श्रेष्ठ पत्रकार की माप उसके आर्थिक अभ्युत्थान के बजाय देश के लिए किये उसके कष्ट-सहन से होती थी।

मुझे पत्रकारिता में प्रवेश किये एक दशक से अधिक हो गया था, परन्तु जिसे उस समय कृष्णधाम-यात्रा कहा जाता था उस जेल-यात्रा का अभी तक अवसर नहीं आया था। गोरखपुर की गिरफ्तारी और मुकदमा भी जेल-यात्रा का अनुभव न करा सका। सन् तीस (१९३०) के आन्दोलन के समय तो मैं कांग्रेस के पदाधिकारियों में भी था और गैरकानूनी कांग्रेस-विज्ञप्तियाँ तैयार करने आदि में भी मेरा योग रहा, परन्तु जेल जाने की पहल मैंने नहीं की और गिरफ्तार भी नहीं हुआ। इससे मन में कुछ असंतोष और हीन-भावना होना स्वाभाविक था।

तीस के आन्दोलन का समय यों बड़ा उथल-पुथल का था। अजमेर उस समय चीफ कमिश्नर के अधीन ब्रिटिश प्रदेश था और चीफ कमिश्नर आसपास की रियासतों के लिए ए० जी० जी० (एजेण्ट टू दी गवर्नर-जनरल) होता था। इसलिए बुन्देलखंड सहित मध्य भारत (जो अब मध्य प्रदेश का अंग बन गया है) और राजस्थान (राजपूताना) की रियासतों की प्रजा के लिए भी वही कांग्रेस का क्षेत्र था।

सभी जगह के कार्यकर्त्ता आन्दोलन में भाग लेने को अजमेर एकत्र हुए थे और उनका जेल जाना-आना वहीं से होता था, जिससे उनसे संपर्क का सुयोग मिला और देश के लिए बलिदान तथा कष्ट-सहन की उनमें व्याप्त भावनाओं की झाँकी मिली। इनमें सभी तरह के लोग थे, जिनमें से कुछ उस समय भी पत्रकारिता या साहित्य-सेवा में संलग्न थे और कुछ ने आगे चलकर पत्रकारिता को अपनाया।

उज्जैन के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य सूर्यनारायण व्यास से इसी समय संपर्क हुआ, जो आन्दोलन के सिलसिले में ही अजमेर आये थे। बाद में तो उनसे संपर्क बढ़ता ही गया और महाकाल-निकटवर्त्ती उज्जैन के उनके निवासस्थान में भी जाने का सुयोग हुआ।

बूँदी के ऋषिदत्त नागर राजस्थान सेवा संघ के झगड़ों के बाद 'तरुण राजस्थान' के संपादक के रूप में पत्रकारिता में आये थे, उनके समूचे परिवार ने आन्दोलन में अपनी भेट चढ़ायी। उनके पिता नित्यानंद नागर कभी बूँदी के कमाण्डर-इन-चीफ (फौज वख्शी) रहे थे, संपन्नता और विलासिता के लिए प्रसिद्धि के बावजूद देश के लिए उनका वलिदान ईर्ष्या-योग्य रहा। मैंने स्वयं उन्हें ढेरों रोटी और सेरों दूध पीते देखा, पर स्वाद-विजयी के रूप में नीम के पत्तों को घोटकर ठण्डाई की तरह स्वादपूर्वक पीते भी देखा। इन्हीं को जेल-प्रवास में अपनी ही खूराक में संतुष्ट रहते पाया और कभी किसी से रोटी माँगते नहीं देखा। इनके लिए तो आदर होना स्वाभाविक ही था, पर इनकी पुत्रवधू (ऋषिदत्तजी की पत्नी) सत्यभामा ने गोद के बच्चों के साथ आन्दोलन में भाग लेने व जेल जाने का जो उत्साह दिखाया वह भी कम रोमांचक नहीं। ऋषिदत्तजी पत्रकारिता में अभी भी हैं और छोटा-सा ही सही पर एक साप्ताहिक बूँदी या कोटा से निकाले जा रहे हैं, इसे उनकी लगन का ही परिणाम कहा जा सकता है।

'प्रदीप' (पटना) के वर्त्तमान सम्पादक रामसिंहजी भी उस समय अजमेर-जेल में रहे थे और जेल के अन्दर जो हस्तलिखित पत्र निकलता था उसमें उनकी हस्तलिपि में आर्थिक विषय पर लिखे उनके लेख ने उनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। बाद में तो मेरे दिल्ली आ जाने पर वह दिल्ली ही आ गये थे और मेरे साथ 'हिन्दुस्तान' में भी रहे।

बुन्देलखंड के कैप्टन अवधेश प्रतापसिंह को भी तभी देखा। पर सबसे आकर्षक थी कुछ तरुणों की टोली, जो इधर-उधर से आये थे और सेवा तथा कष्ट-सहन में सबसे आगे रहते थे। दुर्गाप्रसाद चौधरी भी तब तरुण ही थे और स्वयंसेवकों के कैप्टन के नाते कप्तान नाम से मशहूर थे। उस समय किसी को अन्दाज नहीं था कि यह कभी पत्रकार भी होंगे, पर आगे जाकर पत्रकार ही नहीं पत्र-स्वामी बने और आज इनका 'नवज्योति' दैनिक रूप में अजमेर-जयपुर दो जगह से प्रकाशित होता है, साथ ही एक अंग्रेजी दैनिक भी निकलता है।

जयनारायण व्यासजी भी इसी समय सामने आये, जिन्होंने बाद में राजस्थान के मुख्य मन्त्री की गद्दी भी सुशोभित की। इनका व्यक्तित्व निस्सन्देह उस समय भी आकर्षक था और कष्ट-सहन इन्हें निरुत्साह करने के बजाय उत्फुल्ल करता था। व्यावर का वह दिन अब भी मुझे याद है जब मैं 'तरुण राजस्थान' के इनके कार्यालय में बैठा हुआ था और आन्दोलन छिड़ने की खबर पाकर यह उसी तरह नाच उठे थे जैसे कानपुर में, प्रताप कार्यालय में, एक बार बालकृष्ण शर्मा को मस्ती में आकर नाच उठते देखा था। पत्रकार यह अन्त तक रहे और राजनीति के थपेड़ों में मिट जाने के अवसर

उपस्थित होने पर भी अपनी मस्ती और जिन्दादिली के कारण मिटे नहीं। लिखने और बोलने के अलावा यह कविता भी करते थे और दूसरों की चुटकी लेने और हँसाने में सिद्धहस्त थे। घर आते तो तरह-तरह की बोलियाँ बोलकर बच्चों के अपने बन जाने का इनमें अद्‌भुत गुण था।

वे दिन सचमुच उद्वेलित करने वाले थे, फिर भी ताज्जुब है कि सन् तीस के आन्दोलन में मैं जेल नहीं गया। जेल न जाने का कोई निश्चय नहीं था पर यह भी सच है कि उसके लिए व्याकुलता नहीं थी और कोई पहल नहीं की गयी।

'त्यागभूमि' के साथी

गांधी-अर्विन पैक्ट के बाद आन्दोलन जब बन्द हुआ तो 'त्यागभूमि' फिर शुरू हुई, परन्तु इस बार मासिक के बजाय साप्ताहिक रूप में। लेकिन मासिक हो या साप्ताहिक, मैं बदस्तूर उसका काम करता रहा। साथियों में इस बार कुछ नये लोग मिले। वंशीलाल लुहाड़िया जयपुर के एक सम्भ्रान्त परिवार के थे और वकालत पास थे। हरिकृष्ण प्रेमी भी ग्वालियर से आकर 'त्यागभूमि' के सम्पादकीय विभाग में शामिल हुए। शोभालालजी भी उसमें शामिल हुए, पर केवल नाम को, काम वह वस्तुतः कांग्रेस का ही करते रहे।

मेरे साथ सभी के अच्छे सम्बन्ध रहे। वंशीलालजी तरुण, मधुरभाषी और हँस-मुख थे। प्रेमीजी कवि-हृदय थे और अलमस्त। कविता उनके लिए स्वाभाविक-सी थी और उनकी एक धाराप्रवाह कविता 'स्वर्ण-विहान' नाम से पुस्तक-रूप में मण्डल से प्रकाशित हुई। बाद में तो वह कवि और नाट्यकार के रूप में काफी प्रसिद्ध हुए।

प्रेमीजी के बड़े भाई गोपीकृष्ण विजयवर्गीय से भी तभी सम्पर्क हुआ, जो यद्यपि 'त्यागभूमि' में नहीं थे मगर देश-सेवा और पत्रकारिता से प्रभावित थे। पहले वह वैदिक प्रेस या आर्य प्रतिनिधि सभा में काम करते थे, परन्तु देश-सेवा की भावना से आन्दोलन में पड़कर जेल-वासी हुए। उनके सम्पर्क में आने पर पता चला कि उनमें न केवल सेवा की भावना है बल्कि अध्ययन की प्रवृत्ति भी है। मार्क्स की पुस्तक का उन्होंने अनुवाद किया, जो मंडल से पा। तारुण्य की, वामपक्षीय उनकी रुझान का इससे पता चलता है, जिसके कारण ही बाद में मध्य भारत में काम करते हुए बुजुर्ग पीढ़ी से थोड़ा उनका टकराव भी हुआ। लेकिन उनकी सदाशयता और निष्ठा का जोड़ नहीं। देशी राज्य लोक परिषद की मध्य भारत में जड़ जमाने में उनका बहुत योग रहा। उसके अध्यक्ष होते हुए उसके काम से जब वह दौरा करते तो ऐसे भी अनेक अवसर हुए जब जहाँ जाते वहाँ पहले वही अपने भाषण का ऐलान करते और सभा के वक्त वक्ता के रूप में

प्रकट होते। इस निष्ठा और सेवा का ही परिणाम हुआ कि शासनपटु न होते हुए भी मध्य भारत बनने पर वह उसके मुख्यमंत्री तक बने और संसद-सदस्य भी रहे।

भाई गोपीवल्लभ उपाध्याय की इस समय सहसा याद आती है, जिनका नाम नरसिंहगढ़ राज्य के अपने विद्यार्थी-काल में हिन्दी 'चित्रमय जगत' (पूना) के सम्पादक के रूप में मेरे लिए आदरणीय था। 'युवराज' नाम से वह कविता भी करते थे। 'त्यागभूमि' के समय मंडल के प्रेस व्यवस्थापक के रूप में उन्हें पाकर उनके प्रति लगाव स्वाभाविक था। व्यवस्था और सम्पादकीय विभाग में रहने वाली परम्परागत खींचतान के बावजूद उसमें अन्तर नहीं पड़ा, यद्यपि यह आश्चर्य रहा कि मूलतः साहित्यिक होते हुए प्रेस के काम में वह कैसे पड़े। पत्रकारिता में संभवतः उनका अंग्रेजी अध्ययन का अभाव उनके आगे बढ़ने में रुकावट हुआ, मराठी और गुजराती पर ही उनका विशेष आधार था। अंग्रेजी के अभाव में उनका आगे बढ़ना अवरुद्ध होने से ही उनमें कुछ तीखापन आ गया, ऐसा मुझे लगता है; अन्यथा उनकी भाषा मँजी हुई और अन्तर निर्मल था, यह मैं कह सकता हूँ। यह सचमुच हमारे देश का विद्रूप ही है कि विदेशी भाषा का सहारा ही आगे बढ़ाता है और स्वभाषा पर निर्भर रहने वाले पीछे रह जाते हैं।

जो मार्त्तण्ड उपाध्याय आज सस्ता साहित्य मंडल के मन्त्री रूप में हिन्दी प्रकाशन-क्षेत्र और लेखक-समुदाय में काफी सुपरिचित हैं उन्हें भी इसी समय मैंने जाना। अब इन्होंने मंडल से अवकाश ग्रहण कर लिया है, किन्तु सलाहकार एवं ट्रस्टी अब भी हैं। हरिभाऊजी के भाई के रूप में तो उनका परिचय हुआ ही, परन्तु उनमें कुछ ऐसा था जो आकर्षित करता था और उनके उज्ज्वल भविष्य का सूचक था। उनकी अकिंचन वृत्ति और सीखने की लगन ने मुझे विशेष प्रभावित किया। स्कूली शिक्षा उनकी भी शायद ज़्यादा नहीं हुई थी, पर महात्मा गांधी के आश्रम में रहने और स्वयं गांधीजी से कुछ शिक्षा पाने का सौभाग्य उन्हें हुआ था। पढ़ने, मनन करने और कुछ लिखने की भी प्रवृत्ति थी। उनकी एक कहानी हमने 'त्यागभूमि' (मासिक) में छापी भी थी, जो बाद में गुजराती 'शुभ संग्रह' में भी अनूदित होकर छपी।

उनकी जिस बात ने मुझे विशेष आकर्षित किया वह यह कि हर किसी से भी सीखने को वह तत्पर रहते थे। राहतजी से उन्होंने 'गीतांजलि' पढ़ी और शायद एडवर्ड कार्पेण्टर का 'स्कोर्ज ऑफ क्राइस्ट' भी। पूरे शिष्य भाव से वह पढ़ते थे। प्रो० देवकीनन्दन अजमेर में तर्क शास्त्र के अध्यापक थे। उनके पास भी वह पढ़ने को जा पहुँचे और तारीफ यह कि हरिभाऊजी से अपना सम्बन्ध बताये बगैर एक जिज्ञासु की तरह उनसे शिक्षा-दान की याचना की। देवकीनंदनजी उनकी विनम्रता से तो प्रभावित हुए ही, जब उन्हें पता लगा कि हरिभाऊजी के यह भाई हैं तो साश्चर्य गद्गद हो गये और बड़े प्रेम के साथ उन्होंने पढ़ाया।

अपनी ऐसी लगन और सीखने की वृत्ति के कारण ही आगे जाकर मंडल जब दिल्ली आया तो उसकी व्यवस्था का भार उन्होंने उठाया। दिल्ली में हमारा और भी सौहार्द-संबंध हुआ और मैंने देखा कि उनकी कार्यकुशलता से तरक्की करते हुए मंडल आज बहुत बढ़ गया है। व्यवस्था के काम में व्यस्त रहने से अब वह लिखते नहीं, पर उनकी परख पैनी है और लेखक की गलती पकड़ने तथा लिखने वाले का मार्ग दर्शन कराने में किसी से कम नहीं। अंतर तो निर्मल है ही।

व्यवस्था-विभाग के लोगों का जहाँ तक संबंध है, मंडल के मंत्री जीतमलजी लूणिया तो हिन्दी-संसार में प्रकाशक के रूप में पहले से ख्यात थे; सर्वथा नये नरसिंह दास अग्रवाल थे, मद्रास में अच्छी चलती केमिस्ट की अपनी दूकान छोड़कर राजस्थान आ गये थे और व्यवस्थापक के रूप में मंडल का काम करते थे। जीतमलजी जहाँ फूंक-फूंककर कदम रखते, नरसिंहदासजी साहसी थे। अपना सब कुछ त्याग देने के कारण 'बाबाजी' कहलाते थे और कंजूसी से दूर थे। एक बार मैंने कहा, अच्छे लेख लिखने के लिए अच्छा कागज चाहिए। तुरंत बढ़िया लाइनदार कागज आ गये। कराची-कांग्रेस गये तब भी बाबाजी साथ थे और उन्हीं का इंतजाम था, इसलिए कोई असुविधा न हुई, न किसी बात की कमी रही।

बाबाजी का पिछला जीवन कुछ अशान्त रहा और आज वह इस लोक में नहीं हैं, अतः उनके बारे में यहाँ कुछ लिखना आवश्यक लगता है। व्यवसाय करते हुए भी सेवा और सार्वजनिक भावना उनमें थी। दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का काम गांधीजी ने उठाया तो उसके लिए साप्ताहिक पत्र निकालकर उसमें उन्होंने योग दिया। सेवा-भावना से प्रेरित होकर ही वह व्यवसाय बन्द कर राजस्थान आये और अपनी सम्पत्ति सार्वजनिक कार्यों में अर्पित कर दी। उनकी पत्नी शान्ति बहन की मुझे याद आती है तो उस समय की अंधाधुंध त्याग वृत्ति सामने आये बिना नहीं रहती। त्याग के चक्कर में उनके गहने बाबाजी ने उतरवा लिये। वह बेचारी बड़े भोलेपन से कहतीं—"क्यों भाई साहब, क्या नाक की लौंग और अँगूठी भी नहीं रखनी चाहिए?" उनका जब स्वर्गवास हो गया और बाबाजी ने देखा कि त्याग के बड़े-बड़े उपदेश देनेवालों की स्त्रियाँ भी बाद में जेवर और अच्छे कपड़े पहनने लगीं तो बाबाजी को निश्चय ही धक्का लगा होगा और अपनी पत्नी के साथ बरती कठोरता का पश्चात्ताप हुआ होगा। इसीलिए वह कुछ उग्र और असंतुलित हो गये थे। गांधीवादी होते हुए भी क्रांतिकारियों को सहारा दिया और गांधीवादियों की आलोचना भी करने लगे थे, लेकिन रहे अंत तक अलमस्त और अकिंचन ही लोगों ने उनके भोलेपन का लाभ भी उठाया, पर वह अपने ही रास्ते चलते रहे। कैसे भी उनके विचार रहे हों, उनके अपनेपन और स्नेह में कमी नहीं आयी

और किसी के आगे वह झुके नहीं । ऐसे लोग निश्चय ही कम होते हैं और भुलाये नही जा सकते ।

साप्ताहिक 'त्यागभूमि'

जहाँ तक 'त्यागभूमि' के साप्ताहिक रूप का सवाल है, मासिक की गंभीरता के वजाय सामयिकता और प्रचार का ही उसका रूप अधिक रहा । समाचारपत्र के साथ विचारपत्र भी उसे बनाया गया, पर मूलतः तो वह समाचारपत्रिका ही थी । 'प्रताप', 'कर्मवीर' और 'अभ्युदय' की तरह उसने भी अपने क्षेत्र में प्रचार और जागृति का काम किया । फलतः सरकार की टेढ़ी नजर उस पर पड़े बिना न रही और सन् बत्तीस (१९३२) के आन्दोलन में सरकार द्वारा मंडल पर ही ताला लगा दिये जाने पर कोई तीन वर्ष की अल्पायु में ही उसे बन्द हो जाना पड़ा ।

मासिक 'त्यागभूमि' ने तो साहित्य-सर्जन के साथ श्रेष्ठ और नये लेखकों की देन दी ही, साप्ताहिक ने भी श्री सिद्धराज ढड्ढा जैसे कई लोगों को लेखक के रूप में प्रस्तुत किया । प्रेमीजी का भी साहित्य-संसार में प्रवेश 'त्यागभूमि' के द्वारा ही हुआ, ऐसा कहें तो गलत नहीं होगा । और प्रेरणा तो न जाने कितनों को दी ।

'त्यागभूमि' अपने समय राजस्थान के (जिसमें उस समय मध्य भारत भी शामिल समझना चाहिए) राजनीतिक जीवन का केन्द्र रही । सरहदी गांधी खान अब्दुलगफ्फ़ार खाँ भी इसी समय अजमेर आये थे और मुझे इस बात का गर्व है कि सार्वजनिक सभा का उनका भाषण मैंने ही नोट कर वहुत कुछ उनके ही शब्दों में 'त्यागभूमि' में छपाया था । सचमुच वह आग उगलनेवाला था, जो असर डाले बिना नहीं रह सकता था ।

'त्यागभूमि' इस तरह सार्वजनिक जीवन को पुष्ट करती हुई बढ़ रही थी कि सन् वत्तीस के आन्दोलन में सरकारी प्रहार से उसे बन्द होना पड़ा । सस्ता साहित्य मंडल ही जब बन्द कर दिया गया तो मेरे लिए भी करने को काम नहीं रह गया और आन्दोलन में पड़ने का रास्ता एक तरह साफ हो गया ।

जेल-यात्रा

दूसरों को बलिदान के लिए प्रेरित करनेवाला स्वयं उससे पीछे नहीं रह सकता । फिर अब तो दफ्तर के काम का बहाना भी न था । जेल तो जाना ही था, सवाल सिर्फ यह था कि जाय। कैसे जाय ?

संयोग कुछ ऐसे होते रहे कि कलम और जबान में मैं कलम का ही आदी होता गया, जवान या भाषण से बचते हुए मैं संकोची और भाषण-भीरु भी हो गया । आज भी मैं भाषण से और इसलिए सभामंच से दूर ही रहता हूँ । कानून-भंग के लिए लोगों के बीच जाकर भाषण या ऐसा ही कोई काम करना चाहिए, जिससे मैं कतराता था ।

आखिर यह तय रहा कि शहर से दूर हटूँडी में जाकर मैं गिरफ्तार होऊँ, जहाँ लोगों की भीड़ देखने वाली न हो। फलतः संभवतः १९३२ के सितंबर में एक दिन तीसरे पहर प्रान्तीय डिक्टेटर के रूप में अपने दो साथियों के साथ मैं रेल से हटूँडी गया और जब साँझ का अँधेरा पड़ने लगा तब हम लोग 'महात्मा गांधी की जय' के नारे लगाते हुए जप्त आश्रम पर कब्जा करने चले।

मेरा संकोच मेरे साथियों को प्रभावित न करता, यह संभव नहीं था; अतः गिरफ्तारी के लिए जाते हुए भी नारे हम बहुत जोर से नहीं लगा पा रहे थे। मगर लगा तो रहे ही थे। अतः नारे लगाते हुए जब हम आश्रम के निकट पहुँचे तो पहरे पर तैनात पुलिसवाले आगे आये और कहा, "आगे आये तो हम गिरफ्तार कर लेंगे।" हमें और चाहिए ही क्या था, हमने कहा कि "यही तो हम चाहते हैं।" और उन्होंने हमें गिरफ्तार कर अपने कब्जे में ले लिया।

इस प्रकार गिरफ्तारी की हमारी इच्छा पूरी हुई और अजमेर ले जाये जाकर दूसरे दिन छह महीने कैद की सजा पा अपनी देशभक्ति पर मैंने मानो छाप लगवा ली।

१० भारत की राजधानी में

बारह वर्ष की पत्रकारिता के बाद अजमेर के जेल-जीवन से देशभक्ति की छाप लगवाकर मुझे भारत की राजधानी में आने का सुयोग मिला। यानी मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और बम्बई में पत्रकारिता के अनुभव लेने के बाद राजधानी दिल्ली मेरा आना हुआ।

यह सब इस प्रकार अकस्मात् हुआ जिसकी पहले से कोई कल्पना या इच्छा नहीं थी, लेकिन आश्चर्य कि उसके बाद दिल्ली ही मेरा कार्यक्षेत्र हो गया।

अजमेर जेल से १९३३ में (सम्भवतः फरवरी में) मेरी रिहाई हुई। 'त्यागभूमि' और सस्ता साहित्य मण्डल बन्द होने के कारण सामने कोई काम न था। काम की कोई तलाश भी नहीं थी, क्योंकि यह खयाल नहीं था कि 'त्यागभूमि' फिर नहीं निकलेगी। अजमेर से और जिन लोगों के बीच काम करता था उनसे कुछ ममत्व भी हो गया था। लगता था, वही घर है और अन्यत्र कहीं जाने की जरूरत नहीं। ऐसी हालत में कब 'त्यागभूमि' निकले, इसी की प्रतीक्षा करनी थी।

अचानक बम्बई जाना हुआ। नौकरी के लिए नहीं, घर के काम से। हमारे एक मामा की बवासीर-भगन्दर की बीमारी बढ़ गयी थी और मामा शंकरलालजी उन्हें लेकर इलाज के लिए बम्बई गये थे। बम्बई में वह शान्ताक्रुज के जमनालालजी के एक मकान में रह रहे थे, वहीं हरिभाऊजी भी इलाज के लिए पहुँचे हुए थे। के० ई० एम० अस्पताल में मामाजी का इलाज हो रहा था, ऑपरेशन हुआ था। हरिभाऊजी की प्राकृतिक चिकित्सा चल रही थी। उसी से प्रभावित हो मामी को भी बम्बई बुलाया था और उन्हें लेकर ही मैं बम्बई गया था।

गुजराती उपन्यास मैंने आबू में रेलवे इन्स्टीटयूट से लेकर भी पढ़े थे, रवीन्द्रनाथ की 'चोखेर वाली' और 'बड़ी बऊ' तथा 'नौका डूबी' गुजराती में मैंने वहीं पढ़े; लेकिन बंबई में मुंशीजी के उपन्यास पढ़कर उन पर चर्चा भी होती और हरिभाऊजी प्रेमचन्द आदि हिन्दी उपन्यासकारों के लेखन से उनके लेखन-कौशल का मुकाबला भी करते। इससे उन्हें ज्यादा अच्छी तरह पचाया जा सका।

प्राकृतिक चिकित्सा के साहित्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, लुई कोने की पुस्तक का अनुवाद तो मैंने पहले भी पढ़ा था; बम्बई में मैकफेडन का बड़ा ग्रन्थ ही नहीं पढ़ा, अमृतसर से प्रकाशित छोटी-छोटी पुस्तकें भी कई पढ़ीं, इसके अलावा कुछ अन्य साहित्य भी। लेकिन पढ़ने से भी बड़ी बात नित्य प्राकृतिक चिकित्सा की चर्चा और वहीं हो रहे उसके प्रयोग की थी। प्रायः सभी की थोड़ी बहुत प्राकृतिक चिकित्सा हुई स्वयं मैंने भी साढ़े बारह दिन का उपवास किया और उससे लाभ भी निस्सन्देह हुआ।

ऐसे अच्छे वातावरण में हम शरीर और मन से स्वस्थ न हों, यह कैसे हो सकता था ? हरिभाऊजी भी अपनी बीमारी का ध्यान छोड़ सबको खुश रखने में प्रवृत्त होते, ब्रिज खेल कर सबको प्रसन्न रखते उन्हें मैंने वहीं देखा। जिन्दगी में तभी मैंने भी ब्रिज खेला, जो अब तो भूल भी गया हूँ।

हरिभाऊजी के निकट संपर्क में तो मैं पहले ही आ चुका था, बम्बई में रात-दिन के साहचर्य का अवसर मिलने पर उनकी कुछ खूबियाँ और देखने को मिलीं। सबको खुश रखने की बात तो ऊपर आ ही चुकी है, दूसरों की बुरी बात को भी कम-से-कम जाहिरा बुरे रूप में न लेने का उनका प्रयत्न भी मैंने स्पष्ट देखा। इसके दो मौके मुझे खूब याद हैं। एक तो मनोहरसिंहजी को उन्होंने परिचय-पत्र देकर अंग्रेजी के एक मालिक पत्र-सम्पादक के पास भेजा उसका। मनोहरसिंहजी बहुत क्षुब्ध होकर आये और कहने लगे कि काम नहीं किया, इसका मुझे इतना दुःख नहीं; पर आपके पत्र को जिस तरह उन्होंने फाड़कर फेंका, उससे आपके प्रति उनकी अवज्ञा-वृत्ति ने मुझे बहुत चोट पहुँचायी। हरिभाऊजी को भी यह बुरा न लगा होगा, ऐसा मानने को मेरा मन तैयार नहीं; पर जाहिरा उन्होंने उस पर कोई विपरीत भाव व्यक्त नहीं किया और यह कह कर ही मनोहरसिहजी को समझाने की चेष्टा की कि उनके यहाँ जगह नहीं होगी और चिट्ठी फाड़ डालने में अपमान का इरादा नहीं होगा, उसकी जरूरत न होने पर और करते भी क्या ? इसी तरह एक बार अजमेर से गोकुललालजी असावा आये, जो चोटी के कार्यकर्त्ता थे पर थे मुँहफट और खरे। उन्होंने राजस्थान के एक नेता के बारे में बहुत-सी बातें बतायीं कि वह आपके खिलाफ कैसा बुरा रुख ले रहे हैं। पर तारीफ़ हरिभाऊजी की, उन्होंने यही दिखाने की चेष्टा की कि ऐसी कोई बात नहीं है और गोकुलजी को ही समझाने लगे कि ऐसी धारणा गलतफहमी में आकर नहीं बना डालनी चाहिए।

दिल्ली का निमन्त्रण

अपनी बेकारी और कठिनाई को ऐसे अच्छे वातावरण में हमने भुला ही रखा था कि अचानक एक दिन अजमेर से रिडायरेक्ट होकर दिल्ली का एक पत्र मिला। उसमें दिल्ली के दैनिक 'अर्जुन' में आने का मुझे निमन्त्रण था।

दिल्ली का 'अर्जुन' सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय पत्र था, जो स्वामी श्रद्धानन्दजी के सुपुत्र पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति के स्वामित्व में आजादी के लिए लोगों का उद्बोधन और मार्ग-दर्शन कर रहा था। 'प्रणवीर' के मेरे साथी भाई रामगोपाल विद्यालंकार उस समय उसके सम्पादक थे और राजस्थान सेवासंघ से परिचित 'त्यागभूमि' के मेरे साथी भाई कृष्णचन्द्र विद्यालंकार भी उसमें काम कर रहे थे। श्री सत्यकाम विद्यालंकार के बम्बई चले जाने से संपादकीय विभाग में कमी आ गयी थी। किसी को संपादकीय विभाग में रखना था। कृष्णचन्द्रजी को खयाल आया कि 'त्यागभूमि' बन्द है और मैं जेल से छूट चुका हूँ। उन्होंने रामगोपालजी को बताया। उन्होंने भी सहमति बतायी और कहा, वह आ जायँ तो अच्छा ही है। फलतः कृष्णचन्द्रजी ने मुझे लिखा और बाद में या उसी वक्त रामगोपालजी का भी पत्र मिला।

मेरे लिए यह आह्लाद का कारण होना चाहिए था, किन्तु सच पूछो तो आह्लाद के बजाय असमंजस अधिक हुआ। इसे मेरी अव्यावहारिकता कहिए या अपरिपक्वता, अजमेर छोड़ने की बात मन में पैठती ही नहीं थी। फलतः ननु-नच करने लगा और ऐसा ही कुछ जवाब दिल्ली भेजा। लेकिन दाद देनी होगी कृष्णचन्द्रजी की व्यावहारिक बुद्धि को कि उन्हें मेरी आनाकानी बिल्कुल न भायी और लम्बे पत्र लिखकर मुझे दिल्ली आने के लिए प्रेरित करते रहे।

हरिभाऊजी सब पत्र देखते रहते थे और उस समय हम सबमें ज्येष्ठ तथा समझदार थे। मेरी पारिवारिक परिस्थितियों तथा कृष्णचन्द्रजी की दलीलों के कारण उन्होंने सलाह दी कि मुझे दिल्ली जाना ही चाहिए, चाहे ऐसा सिर्फ छह महीनों के लिए ही क्यों न हो। गौरीशंकर भाई भी हमारी सब बातों से परिचित रहते थे और एक तरह घर के ही आदमी हो गये थे, उन्होंने भी दिल्ली जाने का परामर्श दिया।

आखिर यह तय रहा कि छह महीने के लिए मैं 'अर्जुन' में दिल्ली चला जाऊँ, इस बीच 'त्यागभूमि' का फिर से निकलना सम्भव हो सकता है और तब मैं उसमें आ सकता हूँ। असमंजस के बीच इस निर्णय को मैंने स्वीकार किया और बम्बई के उस सुखद वातावरण से दिल्ली के नये वातावरण में प्रवेश करने के लिए अजमेर को प्रस्थान किया।

'अर्जुन' में कार्यारम्भ

कहने की जरूरत नहीं कि वह जमाना हम जैसों के लिए धन-संचय का नहीं था, फिर १९३२ में 'त्यागभूमि' बन्द होने के बाद से रोजगार भी कहाँ था? भगवान बस किसी तरह गुजर कराते थे। अजमेर तक का मामाजी ने कैसे प्रबन्ध किया, मुझे याद नहीं; पर अजमेर आकर, मुझे याद है, जीतमलजी से दिल्ली जाने के लिए कुछ रुपये

उधार लिये थे और तब १९३३ की जुलाई के पहले सप्ताह दिल्ली के लिए रवाना हुआ था।

रात की गाड़ी से अजमेर से प्रस्थान कर अगले सबेरे मैं दिल्ली पहुँचा। दिल्ली उस समय आज जितनी नहीं बढ़ी थी, फिर भी बड़ी तो थी ही। मैं पहुँचा तब बारिश हो रही थी—शायद रिवाड़ी से ही जोर का पानी पड़ने लगा था, अतः रेल से उतर ताँगा करके भींगता हुआ मैं नया बाजार स्थित अर्जुन-कार्यालय में पहुँचा। जहाँ तक मुझे याद है, उस दिन जुलाई की ७ तारीख थी।

अर्जुन-कार्यालय में मैं रामगोपालजी का इन्तजार करने लगा और कुछ देर बाद आते ही उन्होंने सामान सहित मुझे कटरा बरियाँ के अपने मकान भिजवाया, जहाँ उनकी पत्नी ने मेरा स्वागत किया और कोई आधा महीना मैं वहीं रहा। 'अर्जुन' का काम तो कहने की ज़रूरत नहीं कि उसी दिन से शुरू कर दिया और छह महीने के बजाय पूरे तीन साल मैंने वहाँ काम किया।

इस प्रकार भारत की राजधानी में मेरा कार्यारम्भ हुआ।

■

११ 'अर्जुन' के तीन साल

दिल्ली से तीर छोड़ता हुआ 'अर्जुन' भी अपने ढंग का एक ही पत्र था, जो मिशनरी पत्रकारिता की बुझती हुई लौ की तरह उस समय चमक रहा था, मगर अपने इस आदर्श पर दृढ़ था :

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम् ।

मेरे लिए 'अर्जुन' का वातावरण नया था । वेतन अजमेर से कम था, काम मुख्यतः खबरों के अनुवाद का या यों कहिए कि अंग्रेजी तार-समाचारों से अखबार के अनुकूल हिन्दी में समाचार तैयार करके छपाई की जल्दी के अनुसार प्रेस को देने का था। परिवार की जिम्मेदारी जहाँ अब तक मुख्यतः मामाजी पर रही थी वहाँ दिल्ली में मुझे ही नोन-तेल-मिर्च और मकान-गिरस्ती की फिक्र करनी पड़ी ।

लेकिन मौक़ा पड़ने पर रास्ता निकालना ही पड़ता है । फिर नये वातावरण में भी सर्वथा मित्र-विहीन तो मैं था नहीं । रामगोपालजी मेरे लिए बड़े भाई जैसे थे, जिनके यहाँ ही शुरू में मैं आकर ठहरा भी था । संयोगवश जहाँ रामगोपालजी रहते थे, जिनसे वर्धा में 'राजस्थान केसरी' के समय मैंने बहुत कुछ सीखा और अपनापन प्राप्त किया था, उन्होंने मेरे प्रति वैसा ही स्नेह दरसाया और सबेरे घूमने जाते समय अक्सर अपने साथ मुझे भी ले जाते थे । कटरा बरियाँ के मकान से निकलकर हम फतहपुरी जाते और वहाँ से तीन पैसे में ट्राम के दो टिकट खरीदकर सब्जी मण्डी के बर्फखाने तक पहुँचते, वहाँ पहाड़ी पर घूमकर इसी तरह वापस घर लौटते थे । फिर जिन कृष्णचन्द्रजी की प्रेरणा पर मैं दिल्ली आया था, वह भला मुझे कोई तकलीफ क्यों होने देते ?

नये वातावरण में मैंने अपने को शीघ्र ही 'फिट' कर लिया । रामगोपालजी के मकान बदलने पर मैं पहले तो शाहदरा रहने गया, जहाँ मकान अच्छा, सस्ता और वातावरण परिचित था । पर वहाँ रहना सुविधाजनक न हुआ । संयोगवश दफ़्तर के पास नया बाजार में ही रहने की व्यवस्था हो गयी, यद्यपि थी वह अस्थायी ही । श्रद्धानन्द ट्रस्ट के मन्त्री धर्मवीर वेदालंकारजी की पत्नी गयी हुई थीं, उस बीच उनके फ्लैट में रहने आ गया था । इसके बाद फुर्सत से और अनेक मकान देखने के बाद

शहर की घनी बस्ती के बजाय सब्ज़ी मण्डी में एक ऐसे मकान को पसंद किया जिसमें रसोई, टट्टी, गुसलखाना सब कुछ अपना था। वहीं अभी भी मैं हूँ।

खुशकिस्मती यही रही कि वह मन्दी यानी सस्ताई का ज़माना था। परिवार भी उस समय छोटा ही था और आदतें खर्चीली नहीं थीं। इसलिए जितनी दोहर उतने ही पाँव पसारने की अपनी मनोवृत्ति के अनुसार जो मिलता था उतने में ही काम चलाने लगा।

भाई कृष्णचन्द्रजी भी सब्जी मण्डी में ही रहते थे, और फिर तो रामगोपालजी तथा सत्यदेवजी भी पास ही बनी एक नयी बिल्डिंग में रहने लगे थे। इससे अकेलापन भी कम हो गया और सामाजिकता आयी। कुछ समय बाद सस्ता साहित्य मण्डल के दिल्ली-स्थानान्तर से उसके इंचार्ज बनकर मार्त्तण्ड उपाध्याय भी दिल्ली आये और वह भी हमारी ही बिल्डिंग के एक मकान में रहने लगे, जिससे उनसे निकटता बढ़ने के साथ-साथ दिल्लीवास सुखद भी लगने लगा। रामगोपालजी और सत्यदेवजी तो अब नहीं रहे, पर कृष्णचन्द्रजी और मार्त्तण्डजी का ममत्व और स्नेह अब भी वैसा ही है।

दफ्तर की बातें

पर ये तो हुई घरेलू और व्यक्तिगत बातें, 'अर्जुन' के काम का जहाँ तक सम्बन्ध है कुछ बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

काम की मेरे लिए कोई दिक्कत नहीं थी, आते ही मैंने शुरू भी कर दिया। परन्तु 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः' के अनुसार सबसे पहली कठिनाई मेरे छह महीने ही दिल्ली रहने के विचार से आयी।

पं० इन्द्रजी को जब मेरे इस विचार का पता चला तो उन्हें आपत्ति हुई। उनका विचार था कि छह महीने तो नये व्यक्ति को नये वातावरण के अनुकूल बनने में ही लग जाते हैं, यानी वे तैयारी के होते हैं, तभी चले जाने का मतलब हुआ कि परिपक्वता का लाभ 'अर्जुन' को नहीं मिलेगा और फिर किसी नये व्यक्ति को लाकर तैयार करना होगा। यह उन्हें ठीक नहीं लगा। उनका विचार था कि कम से कम तीन साल एक जगह रहना ही चाहिए। मैं अपने विचार से पलटने को तैयार न था, क्योंकि मन में यही जमा हुआ था कि जाना तो आखिर अजमेर ही है।

नतीजा यह हुआ कि लौट जाने की नौबत आ गयी और मैं वापस जाने की सोचने लगा, मगर पता नहीं क्यों ऐसा हुआ नहीं और मैं 'अर्जुन' में ही काम करता रहा। मालूम यह हुआ कि इन्द्रजी और रामगोपालजी में मेरे बारे में काफी बातचीत हुई, कृष्णचन्द्रजी का भी शायद कुछ योग रहा। इन्द्रजी को इसे मेरी भावुकता बताकर कुछ ऐसा कहा गया कि यह जायेंगे कहाँ, 'त्यागभूमि' के निकलने का कुछ निश्चय नहीं है।

इसी बीच हरिभाऊजी का भी दिल्ली आना हुआ और इन्द्रजी से जब वह मिले तो उनकी आशंका पर उन्होंने आश्वासन दिया कि 'त्यागभूमि' निकली भी तो मुकुटजी को आपकी मर्जी वग़ैर, या आप से पूछे वग़ैर, नही बुलाया जायगा।

इस तरह मेरी अव्यावहारिकता या भावुकता से आया विघ्न दूर हुआ। संयोग की बात कि पूरे तीन साल ही मैंने 'अर्जुन' में काम किया।

यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि इन्द्रजी के लिए इससे मेरे मन में कोई विपरीत भावना नहीं आयी। 'विजय' के समय से मैं उनकी लेखनी और देशभक्ति का कायल था। 'विजय' जब निकलता था, मैंने यह भी सुना था, माखनलाल चतुर्वेदी इन्दौर में चिकित्साधीन थे और मृतप्राय उनकी दशा थी, फिर भी बेतावी से 'विजय' के आने की प्रतीक्षा किया करते थे। 'विजय' के अंक मैंने भी देखे थे, जिसके अग्रलेख कई बार सेंसर की कृपा से गायब तक रहते थे। 'अर्जुन' के उनके अग्रलेख भी भाषा, भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अपना जोड़ नहीं रखते थे।

देशभक्ति उनकी हमेशा असंदिग्ध रही, आर्यसमाजी होते हुए भी सर्वथा राष्ट्रीय उनका दृष्टिकोण रहा और सम्पादक की मर्यादा को उन्होंने कभी गिरने नहीं दिया। 'अर्जुन' में काम करने वालों के प्रति भी उनका व्यवहार सम्मानपूर्ण ही रहा और सम्पादकीय कार्य में हस्तक्षेप करते उन्हें मैंने कभी नहीं देखा। बाद में तो हिन्दी पत्रकार संघ के संगठन के समय मैंने उन्हें विवादपटु और सामंजस्य रखने वाले के रूप में भी बहुत ऊँचे दर्जे का पाया, जिससे उनके प्रति मेरा सम्मान बढ़ता ही गया।

'अर्जुन' की संघर्ष-कथा'

१९४७ की वसंतपंचमी पर, २७ जनवरी को जब 'अर्जुन' का रजतजयन्ती महोत्सव मनाया गया, मैं उसमें काम नहीं कर रहा था; लेकिन मुझे उससे बहुत खुशी हुई। 'अर्जुन' के जीवन-संघर्ष की जो कहानी उस समय पं० इन्द्रजी की कलम से सामने आयी उससे 'अर्जुन' और इन्द्रजी दोनों के प्रति मेरा मन श्रद्धावनत हुआ और इसे मैंने अपना अहोभाग्य माना कि ऐसे पत्र में मेरा भी कुछ योगदान रहा। वह कहानी आजादी से पहले की पत्रकारिता पर प्रकाश डालती है, इसलिए उसका सार यहाँ देने का मैं लोभ-संवरण नहीं कर सकता।

'अर्जुन' का श्रीगणेश १९१३ में साप्ताहिक 'विजय' के रूप में हुआ था, जिसका प्रकाशन इन्द्रजी ने नहीं बल्कि उनके बड़े भाई यानी स्वामी श्रद्धानन्दजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार ने किया था। क्रान्तिकारी राजा महेन्द्र प्रताप के साथ वह विदेश चले गये, जिससे केवल डेढ़ मास ही वह चला और लगभग छह वर्ष बाद १९१८ के अन्त में इन्द्रजी गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन-कार्य छोड़कर जब दिल्ली आये तब

श्रीमती एनी बेसेण्ट के पत्रों में काम किये हुए श्री टी० पी० (तारिणी प्रसाद) सिन्हा के सहयोग से उसे दैनिक रूप में निकाला। इन्द्रजी के ही शब्दों में कहें तो "पूज्य स्वामीजी की संरक्षा, श्रीयुत तारिणी प्रसाद सिन्हा की अद्‌भुत तिकड़म और मेरे संपादन में 'विजय' का पहला परचा १९१९ के प्रारम्भिक दिनों में दिल्ली से प्रकाशित होने लगा।"

"उस समय दिल्ली की भाषा उर्दू थी और एकमात्र समाचार-एजेंसी एसोशियेटेड प्रेस आफ इंडिया के डाइरेक्टर के० सी० राय ने दिल्ली को अखबारों के लिए ऊसर भूमि बताकर दिल्ली से अखबार निकालने का दुःसाहस न करने की सलाह दी थी। उनकी बात ग़लत भी नहीं थी, जिसका प्रमाण था कि 'विजय' के प्रकाशित होने के सात दिन पीछे उसकी स्थानीय बिक्री दैनिक ७० प्रतियों तक पहुँची थी। लेकिन इन्द्रजी हतोत्साह नहीं हुए और रौलेट एक्ट के रूप में सरकार ने जो ग़लती की उसने १९१९ के अप्रैल में कुछ परिवर्तन किया। फलतः "दिल्ली का ऊसर क्षेत्र अत्यन्त उपजाऊ भूमि के रूप में परिणत हो गया।"

स्थिति में आया यह सुपरिवर्त्तन सरकार को वर्दाश्त न हुआ और सरकार की कृपा से एक वर्ष से कम समय में ही 'विजय' का तूफ़ानी जीवन समाप्त हो गया। सेंसर द्वारा एक तरह पत्र का गला ही घोंट दिये जाने पर आखिर १९१९ के तीसरे चरण में ही उसे बन्द कर देना पड़ा।

'विजय' के बाद १९२३ की जनवरी में 'सत्यवादी' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला गया, जो 'अर्जुन' शुरू करने के कुछ समय बाद तक भी निकलता रहा परन्तु फिर 'अर्जुन' में ही मिला दिया गया था। 'अर्जुन' का पहला अंक दैनिक के रूप में २८ अप्रैल १९२३ को निकला। जब वह निकला, इन्द्रजी का कहना है: "न कुछ मूल धन था और न कोई साथी। केवल दुःसाहस की पूँजी के सहारे दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। पत्र लिखा जाता था श्रद्धानन्द बाज़ार में और छपता था लगभग डेढ़ मील की दूरी पर सद्धर्मप्रचारक प्रेस में, जो उन दिनों परेड के मैदान वाली सड़क पर था। (और) पत्र-सम्पादन में मेरे एकमात्र सहायक अमृतसर के स्वर्गीय स्नातक देवराजजी थे।"

ऐसी असम्भव परिस्थितियों में वह चला कैसे? यह प्रश्न करके स्वयं इन्द्रजी ने बताया है कि "दैव अपनी इच्छा को पूरी करने की सामग्री स्वयं उपस्थित कर देता है।" स्वामी श्रद्धानन्दजी ने सेठ जुगलकिशोरजी बिरला से कठिनाइयों की चर्चा की और उनकी दी हुई राशि से प्रेस खरीदा गया। इस प्रकार 'अर्जुन' का अपना प्रेस हुआ और 'विजय' के विप्लवमय छोटे-से जीवन ने जहाँ एक ओर दिल्ली के चारों ओर

हिन्दी का सुन्दर क्षेत्र तैयार कर दिया था, इन्द्रजी बताते हैं, "वहाँ मेरे साथ पाठकों का वह निजू-सा प्रेम-सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था जो अनेक विघ्न-बाधाओं के आने पर भी निरंतर बढ़ता ही गया""फलतः 'अर्जुन' को प्रारम्भ से ही पढ़ने वाले मिल गये और सहायक भी।"

लेकिन सरकार उसे कैसे बर्दाश्त कर सकती थी, जब उसकी निगाह में वह क्रांतिकारी था और फाइलों पर फ़ाइलें उसके खिलाफ़ इकट्ठी हो रही थीं ? फलतः दो साल किसी तरह खामोश रहने के बाद १९२५ से नियमित रूप में सरकारी बाधाएँ उपस्थित होने लगीं—जेल, जुर्माने और जमानतें। फलतः 'अर्जुन' से वह 'वीर अर्जुन' हुआ, लेकिन फिर भी जीवन निर्बाध न हुआ। १९३६ में 'हिन्दुस्तान टाइम्स' से दैनिक 'हिन्दुस्तान' निकला, 'न्यूज़ क्रानिकल' से 'नवयुग'। और भी छोटे-मोटे पत्र निकलते बन्द होते रहे। आर्थिक दृष्टि से 'अर्जुन' का कमजोर ढाँचा उनकी प्रतियोगिता का बहुत समय तक मुकाबला न कर सका और १९४७ में रजतजयन्ती मनाने के बावजूद बाद में दूसरे हाथों में चला गया। विक्रय-परिवर्त्तन होते हुए आजकल वह उर्दू 'प्रताप' वालों के पास है और निकलता तो 'वीर अर्जुन' के नाम से दैनिक रूप में ही है, परन्तु पहले वाली बात नहीं रही। मिशनरी पत्रकारिता के बजाय अब वह एक संगठित पत्र-मंडल का अंशमात्र है।

'अर्जुन' के मेरे साथी

यह तो हुई 'अर्जुन' की कहानी, पर मेरा जीवन भी 'अर्जुन' में अस्थिर-सा ही रहा। प्रथम विघ्न का ऊपर ज़िक्र कर ही चुका हूँ, दूसरी कठिनाई हमारे एक साथी की तरफ़ से उपस्थित हुई। यों जाहिरा मेरे साथ उनका तथा दूसरे सभी साथियों का स्नेह-सौहार्द रहा, पर उन्हें शायद यह लगा कि विद्यालंकार न होते हुए भी मुझे उनसे ज्यादा वेतन क्यों दिया गया, जबकि तार-समाचारों का बराबर अनुवाद करते रहने से इस काम का उन्हें ज्यादा अभ्यास है। रामगोपालजी या इंद्रजी ने इस संबंध में मुझसे कोई बात नहीं की, पर मुझे पता चला कि साथी की शिकायत पर उनमें कुछ बात हुई और कसौटी लिखने का काम हम दोनों को दे एक दूसरे की योग्यता परख लेने की ठहरायी गयी। इसके अनुसार, कहते हैं, उन्हें सम्पादकीय लिखने का काम सँभालने को कहा गया। इस पर वह कतराये और पहले मुझ से ही यह काम लेने को कहा। संभवतः उसी के फलस्वरूप पहले जहाँ मैं तारों के अनुवाद या डाक से आये संवादों का ही काम करता था, वहाँ सम्पादकीय लिखने की मेरी ड्यूटी लगी। मेरे लिए इसमें कोई कठिनाई थी ही नहीं, बल्कि खुशी हुई। इन्द्रजी बड़े सबेरे उठते थे और जो कुछ

लिखना होता आठ बजे तक लिख डालते थे। अग्रलेख उन्होंने लिखा तो टिप्पणियाँ मुझे लिखनी होतीं, वह टिप्पणियाँ लिखते तो अग्रलेख मुझे। मैं जो कुछ लिखता उसे पसन्द किया गया और साथी का उठाया विवाद इस प्रकार समाप्त हो गया। उन्होंने सम्पादकीय खुद लिखने की फिर बात भी नहीं उठायी।

यों तार-समाचारों की भी जहाँ तक बात है, मैं अक्सर असेम्बली के तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाचार विशेष रूप से करता था, जिनके बारे में स्वयं सम्पादक रामगोपालजी की अपनी नोटबुक में लिखा हुआ था—"मुकुटजी विदेशी तथा महत्त्व के समाचार अच्छे करते हैं।" दूसरे लोग सनसनीखेज और छिटपुट समाचारों में दिलचस्पी रखते थे, जो छोटे-छोटे होने से अलग-अलग शीर्षक आदि के कारण यों भी जगह ज्यादा घेर लेते थे।

'अर्जुन' में मैं आया तब ड्यूटियाँ इस तरह थीं कि दो बार दफ़्तर जाना होता था, ४-५ घण्टे सवेरे और फिर शाम को या तीसरे पहर २-३ घण्टे के लिए। संपादकीय के वक्त भी सबेरे सम्पादकीय लिखने की ड्यूटी होती और शाम को दिल्ली-समाचारों के सम्पादन-संग्रह की। श्री फूलचन्द जैन स्थानीय संवाददाता थे, जो दिन भर के समाचार शाम को ही लाकर देते थे। मुझे यह ठीक नहीं लगा और फिर एक ही समय की, एक साथ ६-७ घण्टों की ड्यूटी करवा ली थी।

बिहार-भूकम्प के समय अनुवाद का विशेष भार पड़ा और तार भी कुछ इस किस्म के होते कि कभी-कभी समझने में कठिनाई होती। उन दिनों हम सभी रात तक बैठते, स्वयं रामगोपालजी भी आते और हमें छाँट-छाँट कर तार देते जाते। रामगोपालजी का यह तरीका बड़ा सहायक था कि पहले वह स्वयं तार पढ़ते और फिर उसका सार बताकर कहते कि इतना इसमें से कर लो। खुद वह भी अनुवाद करते तो मैंने देखा, काम की चीज़ें ही रखते और जितनी जगह होती, या सोचते, उतने में ही पूरा करते थे। श्री जी० डी० जोशी भी इस समय अतिरिक्त सहायक के रूप में हमारे साथ काम करने आते, जो अपनी क़िस्म के एक ही आदमी थे और कहते हैं कि 'स्टेट्समैन' को समाचार दिया करते थे। बाद में हिमालय सम्बन्धी कोई क्लब या सोसायटी का भी उन्होंने संगठन किया था और फिर कपड़े की एक मिल में सेक्रेटरी भी रहे। अब तो शायद वह नहीं हैं, पर उनके छोटे भाई नरेन्द्र जोशी कभी-कभी उनकी याद दिलाते रहते हैं।

अर्जुन के अन्य साथियों में जगन्नाथजी, तुलसीरामजी के अलावा एक सज्जन और थे जिनका नाम इस समय याद नहीं आ रहा, पर वह फिर राँची के पब्लिक स्कूल में शिक्षक हुए थे। सम्भवतः जगदीश चन्द्र शास्त्री उनका नाम था। बाद में वेदव्रतजी

और राजेश्वरजी भी आये, जो दोनों गुरुकुल के स्नातक थे। इनमें वेदव्रतजी बाद में शायद 'अर्जुन' के सम्पादक भी रहे और इस समय दिल्ली में सफलता पूर्वक प्रेस चला रहे हैं। इनकी साहित्यिक रुचि स्पष्ट थी, जबकि जगन्नाथजी शतरंज के शौकीन और प्राइवेट ट्यूशन के अभ्यस्त थे। जगन्नाथजी शुरू से अन्त तक समाचार का ही काम करते रहे और बाद में 'हिन्दुस्तान' में मेरे साथी होने पर भी यही काम करते हुए 'हिन्दुस्तान' के समाचार सम्पादक हुए। तुलसीरामजी भक्त तबियत के और ज्योतिष में कुछ दिलचस्पी रखने वाले थे।

कंपोजिटर 'अर्जुन' में मुझे बहुत होशियार मिले। तीन-चार तो ऐसे थे जिनकी कम्पोजिंग में गलतियाँ यदा-कदा होतीं और एक-दो तो सम्पादकों की कापी में गलतियाँ बताने का भी साहस करते। प्रबन्ध-विभाग के लोग भी ठीक ही थे। मेरा सभी से ठीक सम्बन्ध रहा और आज भी उनका स्मरण कर सुखानुभव ही होता है।

इसी तरह तीन साल बीत गये और एक आकस्मिक घटना के बाद मैं 'अर्जुन' से 'हिन्दुस्तान' में आ गया।

'अर्जुन' से 'हिन्दुस्तान' में ।२

'अर्जुन' से 'हिन्दुस्तान' में आने की भी एक कहानी है ।

'अर्जुन' में काम करते हुए मुझे तीन साल हो चले थे । इस बीच संपादकीय लिखने का काम मिलने पर एक तरह मेरी योग्यता की परीक्षा भी हो चुकी थी । स्वयं इन्द्रजी ने एक दिन मुझसे कहा : "इन दिनों आपने जो संपादकीय लिखे, वे अच्छे थे । मुझे उनसे संतोष है ।"

यह अवसर इस तरह आया कि मेरे 'अर्जुन' में आने के बाद 'त्यागभूमि' के हमारे एक साथी हरिकृष्ण 'प्रेमी' मासिक पत्रिका 'भारती' के संपादक होकर लाहौर पहुँचे और वहाँ साहित्यिकों के संपर्क में आने पर 'मिलाप' वालों ने उनसे अपने हिन्दी दैनिक के संपादन के लिए किसी उपयुक्त व्यक्ति का नाम सुझाने को कहा । उन्होंने स्वभावतः मेरा नाम सुझाया और उनके पसन्द करने पर मुझे 'हिन्दी मिलाप' का संपादक बनने के लिए लिखा ।

प्रेमीजी का सुझाव मेरे लिए आकर्षक था—पद और वेतन दोनों दृष्टियों से; परन्तु अपने ढुलमुल स्वभाववश मैंने कोई उत्सुकता नहीं दिखायी । कुछ सैद्धान्तिक आपत्ति भी थी, क्योंकि 'मिलाप' कुछ हिन्दू सभाई-सा था और कांग्रेस तथा राष्ट्रीय नेताओं की आलोचना भी उसमें मैंने देखी थी, जबकि मैं जेल-यात्रा द्वारा देशभक्ति की मुहर-छाप लगाये कांग्रेसी विचारों का राष्ट्रीय था और गांधीजी तथा नेहरूजी की नीतियों का समर्थक ।

यही कुछ मैंने प्रेमीजी को लिखा, जिस पर 'मिलाप' के संचालकों से बात करके उनका जवाब आया कि मेरे काम में कोई हस्तक्षेप न होगा और कोई लेख (संपादकीय) ऐसा हुआ भी कि जिससे उनका मतभेद हो तो वह मेरे नाम से जा सकता है; इसी तरह वह कोई ऐसी चीज लिखें जो मुझे स्वीकार्य न हो तो वह उनके नाम से जा सकती है ।

यह समझौता अनुचित नहीं था, पर इस पर भी मेरा मन 'मिलाप' में जाने को तैयार न हुआ और मैंने इसकी बहुत चर्चा भी नहीं की । पर कृष्णचन्द्रजी और मार्तण्डजी से कोई छिपाव न था । प्रेमीजी का पहला पत्र आने पर कृष्णचन्द्रजी ने इस संबंध में बात चलाने को आपत्तिजनक भी नहीं समझा; लेकिन जब निश्चित प्रस्ताव

आ गया तो वह इन्द्रजी की तीन साल वाली शर्त की याद दिलाकर कहने लगे, उन्हें इससे शिकायत का मौका मिलेगा।

मेरा मन तो वैसे ही जाने को नहीं था, पर प्रस्ताव लुभावना होने के कारण कृष्णचन्द्रजी का व्यावहारिक मन शायद शंकाशील हुआ और बहुत करके उन्हीं के द्वारा सीधी या किसी के माध्यम से इन्द्रजी तक भी यह बात पहुँची होगी कि मैं अन्यत्र जाने की सोच रहा हूँ। इसी पर एक दिन, जब मैं उनकी छत पर धूप में बैठा अग्रलेख लिख रहा था, इन्द्रजी ने मेरे कहीं और जाने के विचार की चर्चा की तथा मुझसे उपर्युक्त बात कही।

इन्द्रजी से तो मैंने यही कहा कि 'ऑफ़र' तो है, पर जाने का मैंने कोई निश्चय नहीं किया है; लेकिन जाने के लिए उत्साहहीन मन इसके बाद न जाने के निश्चय में बदल गया। तनख्वाह बढ़ने की बात तो फिर भी नहीं हुई, न मैंने इस संबंध में कोई चर्चा की और न इन्द्रजी ने ही कुछ कहा; पर इस बात का संतोष जरूर हुआ कि इन्द्रजी के मन में मेरे लिए अच्छा स्थान है और मेरे काम से वह संतुष्ट हैं।

भाग्य का खेल

यह बिहार में आये भूकम्प के बाद की बात है।

लगभग तीन साल की समाप्ति पर जब मैंने 'अर्जुन' छोड़ा, तब भी वेतन मेरा वही था जो शुरू में मिला था। लेकिन उस वजह से मैंने 'अर्जुन' नहीं छोड़ा, बल्कि सच तो यह है कि जब छोड़ा तब वह वेतन बढ़ाने को तैयार थे और साप्ताहिक 'अर्जुन' का संपादक भी मुझे बना रहे थे।

ऐसे अनुकूल समय मैंने 'अर्जुन' क्यों छोड़ा, इसे भाग्य का खेल ही कह सकता हूँ। बात यों हुई :

'अर्जुन' का काम मैं बदस्तूर करता था। संपादकीय लिखने से जैसे मैं नहीं घबराया, उसी तरह रविवासरीय और साप्ताहिक का जो काम विधिवत् या आपसी तौर पर मुझे बताया जाता उसे करने को भी मैं सदा तैयार रहता।

भाई कृष्णचन्द्रजी उन दिनों यह काम देखते थे और साप्ताहिक पर संपादक के रूप में भी उनका नाम जाता था। उनकी कुशलता कहिए या व्यावहारिकता, इन्द्रजी पर उनकी ऐसी छाप बैठी हुई थी कि वह न हों तो यह काम ठीक से चलना मुश्किल है। इसीलिए उन्हें लंबी छुट्टी भी वह नहीं देना चाहते थे। पर अपने घर सुदूर मुलतान जाने के लिए लंबी छुट्टी बग़ैर काम भी कैसे चलता? बड़ी मुश्किल से उन्होंने इन्द्रजी को छुट्टी के लिए राजी किया कि इस बीच मुकुटजी किसी तरह काम चला लेंगे।

मुझे इसका कुछ पता न था और जब उनकी छुट्टी के दिनों साप्ताहिक का काम

सँभालने को कहा गया तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी ? मैंने काम शुरू कर दिया, जिसमें कोई खास बात की हो ऐसा तो मुझे याद नहीं पर अपनी आदत के अनुसार काम किया अपनी क्षमता भर अच्छी तरह ही।

मालूम नहीं उसमें क्या अच्छाई इन्द्रजी ने पायी, या कि कृष्णचन्द्रजी की द्रुत प्रगति के विरुद्ध किन्हीं का ईर्ष्या-भाव काम कर रहा था, छुट्टी के बाद विद्यालंकारों के साथ गुरुकुल के जलसे में जाने पर वहीं ऐसी कुछ चर्चा चली कि उनकी जगह मेरे काम करने से साप्ताहिक में सुधार हुआ है और इन्द्रजी ने मुझको ही उसका संपादक बनाने का निश्चय कर लिया।

गुरुकुल के जलसे से कृष्णचन्द्रजी तो अपने घर मुलतान गये, इन्द्रजी ने दिल्ली आकर साप्ताहिक पर संपादक के रूप में कृष्णचन्द्रजी का नाम हटवाकर मेरा नाम डलवा दिया।

मुझे इसका कुछ पता नहीं था। मैं तो हस्बमामूल अपने काम में व्यस्त था, अचानक 'अर्जुन' के तत्कालीन मैनेजर युधिष्ठिरजी विद्यालंकार उधर आये और बोले—"मुकुटजी, बधाई !"

मैंने साश्चर्य कहा, "किस बात की ?" तो वह बोले—"आप संपादक बन गये इसकी।"

मैं भौंचक्का रह गया, तब उन्होंने कहा—"आपको पता नहीं ? पत्र पर आपका नाम छप रहा है।"

तभी रामगोपालजी भी बोले—"हाँ, मुकुटजी, मुझे याद नहीं रहा। पंडितजी (इन्द्रजी) ने निर्णय किया है कि अबसे साप्ताहिक के संपादक आप रहेंगे।"

मेरा माथा ठनका। संपादक बनना बुरी बात नहीं, वह तो खुशी की ही बात हो सकती है; पर संपादक छुट्टी पर जाय और पीछे से दूसरे का नाम संपादक की जगह जाने लगे, यह मुझे ठीक नहीं लगा। युधिष्ठिरजी ने 'मालिक की मर्जी' कहकर जब निर्णय का समर्थन किया, तो रामगोपालजी से मैंने कहा : "आप ही बताइए, क्या यह ठीक है ?" और जब उन्होंने मेरी आपत्ति का समर्थन किया, तो उनसे मैंने कहा : "फिर आप ही इन्द्रजी से जाकर कहिए और मेरा नाम हटवा दीजिए।"

युधिष्ठिरजी क्या, किसी भी दुनियादार को आये मौके को हाथ से गँवाने की मेरी बात अटपटी लग सकती थी; पर दुनियादारी को नैतिकता से तरजीह देना अब भी मैं नहीं सीख पाया हूँ। खुशकिस्मती यही कि स्वयं सम्पादक होने के कारण रामगोपालजी को मेरी बात जँच गयी और तुरन्त इन्द्रजी से बात करने चले गये।

कुछ देर बाद मेरी भी बुलाहट हुई और इन्द्रजी ने बड़े स्नेह से अपना पक्ष

समझाया। उनकी बातों का सार यह था कि अब तक उन्हें मेरी क्षमता का पूरा ज्ञान नहीं था और इस काम के लिए कृष्णजी को ही सबसे उपयुक्त समझने के कारण उन्हें सम्पादक बना रखा था; अब उन्हें लगा है कि मैं यह काम ज्यादा अच्छा कर सकता हूँ, इसलिए मुझे सम्पादक बनाया है। जब मैंने कहा कि एक तो छुट्टी की अनुपस्थिति में ऐसा करना मैं ठीक नहीं समझता, दूसरे 'अर्जुन' में आपके चाहे तीन साल पूरे होने को आ रहे हैं और इसके बाद मैं और कहीं नहीं जाना चाहूँगा यह भी नहीं कह सकता। इस पर उन्होंने स्वीकार किया कि अब तक वेतन न बढ़ाकर उन्होंने ठीक नहीं किया, पर कहा—चापलूसी मैं भी पसन्द नहीं करता, पर आप ही बताइए कि स्वयं मिलने रहने या सम्पादक के द्वारा बताये जाने के बगैर मैं किसी के बारे में क्या निर्णय कर सकता हूँ ? अब स्वतन्त्र रूप से किये आपके काम को जब मैंने देखा तभी आपकी क्षमता का ज्ञान हुआ। रामगोपालजी भी अब तो आपकी बड़ी तारीफ कर रहे हैं, पर स्वयं अपनी तरफ से इससे पहले उन्होंने भी कुछ नहीं कहा। अब मैंने आपकी योग्यता जानी और आपकी जरूरतें मैं पूरी करूँगा।

इस प्रकार साप्ताहिक 'अर्जुन' के सम्पादक बनने और वेतन-वृद्धि का सुवर्ण संयोग था, पर मेरे आग्रह पर फिलहाल वह छपता हुआ नाम हटवाने को तैयार हो गये और यह तय रहा कि कृष्णचन्द्रजी के छुट्टी से आ जाने पर उन्हें बताकर इस निर्णय को कार्यान्वित करेंगे। साप्ताहिक लगभग आधा छप चुका था, उतने पर तो मेरा नाम रहा ही; शेष पर मशीन रुकवाकर नाम हटवाया गया।

इस तरह मैं साप्ताहिक 'अर्जुन' का सम्पादक बनते-बनते रह गया और इस चिन्ता में पड़ा कि इस स्थिति को कैसे बदला जाय, क्योंकि नैतिकता का तक़ाज़ा था कि कृष्णचन्द्रजी के आने पर भी मुझे उनकी जगह सम्पादक नहीं बनना चाहिए। और फिर हमारे अपने सम्बन्ध भी तो थे, उन्हीं की वजह से तो मैं यहाँ आया था; उन्हीं को मेरे कारण परेशानी में पड़ना पड़े, यह क्यों होना चाहिए ?

'हिन्दुस्तान' का निमंत्रण

भाई मार्त्तण्डजी से इस बारे में काफी बातें हुईं और हरिभाऊजी को भी मैंने लिखा।

संयोगवश इन्हीं दिनों 'हिन्दुस्तान टाइम्स' से दैनिक 'हिन्दुस्तान' के साथ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' निकालने का विचार भी उसके मैनेजिंग डाइरेक्टर पारसनाथसिंहजी के मन में आया। मार्तण्डजी से उनकी बातें होती रहती थीं और 'त्यागभूमि' के समय से वह मेरे बारे में अच्छी राय रखते थे। मुझ पर उनकी दृष्टि गयी और पहले मार्तण्डजी

के द्वारा बात चलाकर एक दिन स्वयं मुझे बुलाकर उन्होंने मुझे 'हिन्दुस्तान' में आने का निमंत्रण दिया।

मेरे लिए यह वरदान था, क्योंकि कृष्णचन्द्रजी की जमी हुई स्थिति को बचाने के लिए मैं 'अर्जुन' छोड़ने की सोच ही रहा था।

बातचीत से स्पष्ट था कि पारसनाथजी सम्भावित साप्ताहिक का सम्पादक मुझे बनाना चाहते थे, उसी की तैयारी के काम में शुरू में मैं लगा भी, पर स्पष्ट ऐसी बात न उन्होंने कही और न मैंने ही की। न तनख्वाह की बात ही की गयी, न पद की। बाद में जब भाई अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार की नियुक्ति की बात भी सामने आयी, जिनका सत्यदेवजी ने दैनिक के लिए प्रस्ताव किया था। सत्यदेवजी के चले जाने पर पारसनाथजी ने उनके बारे में मुझसे पूछताछ की और दोनों को ही असिस्टेण्ट एडीटर के रूप में रखने की बात के साथ मुँह से नहीं पर संकेत से उन्होंने यह आश्वासन मुझे दिया था कि सत्यदेवजी के बाद मुझसे ऊपर कोई नहीं होगा। इस तरह 'हिन्दुस्तान' में मेरे आने की बात निश्चित हुई, लेकिन मैंने कहा कि 'अर्जुन' छोड़कर मैं तत्काल नहीं बल्कि महीने भर की नोटिस के बाद जब वे मुझे मुक्त कर देंगे तभी आ सकूँगा।

इस तरह मेरे 'अर्जुन' छोड़ने का निश्चय हुआ और मेरे कहने पर हरिभाऊजी ने इन्द्रजी को लिखा कि अब ऐसी स्थिति हो गयी है कि मुकुटजी को 'अर्जुन' में नहीं रहना चाहिए। मैंने भी त्यागपत्र में यही लिखा कि आपकी सदिच्छा के बावजूद इस नयी स्थिति में मुझे 'अर्जुन' में रहना ठीक नहीं लगता। इन्द्रजी का यह सौजन्य है कि उन्होंने इस पर बुरा नहीं माना, नाराज नहीं हुए और एक महीने की छुट्टी जो मैंने ली हुई थी उसे भी रद्द नहीं किया।

यहाँ यह बता देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि उस समय समाचारपत्रों की जैसी अर्थावस्था थी उसमें 'अर्जुन' जैसे पत्रों के लिए समूचे वेतन का नियमित रूप से समय पर भुगतान कर पाना कठिन था, इसलिए वेतन इकट्ठा होता जाता और खर्च के लिए थोड़ी-थोड़ी रक़म एडवांस के रूप में मिलती रहती थी। कर्मचारियों की कठिनाई को मालिक न समझते हों, ऐसी बात शायद नहीं थी; व्यवस्था का दोष या अर्थ की कठिनाई ही इसमें कारणीभूत थे। कर्मचारियों की जरूरतों के प्रति यों मालिक सहानुभूतिशील थे और जब कोई महीने भर की छुट्टी जाता तो उसके खर्चे का खयाल कर वेतन का भुगतान अवश्य कर देते थे।

मैंने भी एक महीने की छुट्टी ली हुई थी और अजमेर जानेवाला था, इसलिए वेतन मुझे मिल गया था। इसी बीच 'अर्जुन' छोड़ने का निश्चय हुआ। तब मुझे लगा

कि स्वीकृत छुट्टी का उपयोग करूँ या नहीं, यह बात मुझे इन्द्रजी पर ही छोड़ देनी चाहिए; और छुट्टी की दृष्टि से ही वेतन मिला है इसलिए यह भी उन्हीं पर छोड़ना चाहिए कि छुट्टी रद्द करें तो मिला हुआ वेतन मैं रखूँ या लौटा दूँ। मित्रों ने इसे मेरी अव्यावहारिकता बताया, पर मुझे नैतिक दृष्टि से यही ठीक लगा और ऐसा ही मैंने इन्द्रजी को लिखकर दे भी दिया। मैंने लिखा कि छुट्टी मंजूर होने के बाद मेरे त्याग-पत्र से नयी स्थिति पैदा हुई है, इसलिए अब यह आप पर निर्भर है कि चाहें तो छुट्टी रहने दें या नामंजूर करें और नामंजूर करें तो वेतन वापस करने को कहें तो उसके लिए भी मैं तैयार हूँ।

यह मेरा सौभाग्य था, या इन्द्रजी का सौजन्य, उन्होंने मेरी छुट्टी रद्द नहीं की और उस हालत में वेतन वापस करने की बात तो उठी ही नहीं। फलतः मैं अजमेर चला गया और वहाँ से लौटकर ही १९३६ के जून का आधा महीना बीत जाने पर, सम्भवतः १६ जून को, मैंने 'हिन्दुस्तान' में कार्यारम्भ किया।

'अर्जुन' में वेतन खाते कुछ रुपये तब भी मेरा बाकी रह गया था, जो बाद में मुझे मिल गया। पर उसके लिए मुझे कभी शिकायत नहीं हुई, क्योंकि इसमें मेरे साथ बुरे व्यवहार की बात नहीं थी बल्कि 'अर्जुन' की उस समय की आर्थिक स्थिति और व्यवस्था के ही कारण सभी के साथ ऐसा होता था।

शिकायत के विपरीत इन्द्रजी और रामगोपालजी आदि के सद्व्यवहार का मैं क़ायल रहा। इसी से 'अर्जुन' छोड़ने पर भी उनका स्नेह मुझे प्राप्त रहा। साथ ही जिस तरह मैंने 'अर्जुन' छोड़ा उससे एक ओर भाई कृष्णचन्द्रजी की स्थिति निरापद हो गयी, दूसरी ओर 'अर्जुन' के सभी लोगों का मैं स्नेह-पात्र बन गया। जिनसे मेरा सीधा वास्ता नहीं पड़ा था वे भी मेरे प्रति अच्छी भावना रखने लगे, जिसका प्रमाण यह था कि अचानक कहीं मिल जाने पर वे बड़ी इज्ज़त से पेश आते। 'अर्जुन' के कुछ लोग बाद में 'हिन्दुस्तान' के कई विभागों में भी आये और इसी कारण मेरे प्रति सदा सदय भाव ही उन्होंने रखा।

इसका अर्थ मैं तो यही समझा कि मनुष्य की सत्प्रवृत्ति अपना अच्छा असर डाले बिना नहीं रहती और मनुष्य को अपने सद्व्यवहार पर ही कायम रहना चाहिए।

इस तरह जुलाई १९३३ से 'अर्जुन' में कार्यारम्भ करके १९३६ के जून में मैं 'हिन्दुस्तान' में आ गया, जहाँ बाद में स्थानापन्न सम्पादक बना और फिर सम्पादक बनकर लम्बे समय तक मैंने काम किया।

■

'हिन्दुस्तान' का आरम्भ

१३

राजधानी के ही नहीं, भारत में निकलने वाले सभी हिन्दी पत्रों में 'हिन्दुस्तान' का अपना विशिष्ट स्थान है। उसका आरम्भ दैनिक रूप में हुआ, जिसका विस्तार होते हुए पहले उसके अतिरिक्त 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' सामने आया और फिर मासिक 'कादम्बिनी' तथा बाल-पत्र 'नन्दन' भी प्रस्फुटित हुए।

दैनिक 'हिन्दुस्तान' के प्रथम पृष्ठ के ऊपर 'हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक' लिखा जाना आत्मप्रशंसा को ठीक न समझने वालों को निश्चय ही सुरुचिकर नहीं लग सकता, लेकिन यह तथ्य है कि एक समय वही हिन्दी का सर्वप्रमुख पत्र था। दिल्ली के निकटवर्त्ती क्षेत्रों; राजस्थान, मध्यभारत, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा उस क्षेत्र में जिसे आजकल हरियाना कहा जाता है, उसका सर्वाधिक प्रसार एवं प्रभाव था। यही नहीं, हिन्दी पत्रों के गढ़ सुदूर कलकत्ता में भी उसका प्रसार और प्रभाव आश्चर्य कारक था। 'नवभारत टाइम्स' निकलने और आज़ादी के बाद स्वराज्य-संघर्ष न रहने से वह बात अब नहीं रही, फिर भी सर्वप्रमुख पत्रों से उसके अन्यतम स्थान को दरगुजर नहीं किया जा सकता।

उद्देश्य और आदर्श

१९३६ में हुए कांग्रेस के लखनऊ-अधिवेशन के समय, १२ अप्रैल, १९३६ को, 'हिन्दुस्तान' अस्तित्व में आया। कांग्रेस अंक से उसका श्रीगणेश हुआ, जो परिपाटी बहुत समय तक उसके वार्षिक कांग्रेस-अंक के रूप में जारी रही। जिन भावनाओं के साथ वह निकला, उनकी झाँकी उसके प्रथम संपादक श्री सत्यदेव विद्यालंकार की लेखनी से लिखे गये प्रथम संपादकीय से मिलती है। उसमें उन्होंने लिखा था :

"पत्रकार का जीवन मुसीबतों और आफतों से घिरा हुआ है। उसके सिर पर सदा ही कानून की तलवार कच्चे धागे से बँधी हुई लटकती रहती है। सर्वथा विपरीत परिस्थितियों में उसे जीवन की लड़ाई लड़नी पड़ती है। चारों ओर से काँटों से भरी झाड़ियों से घिरी हुई कण्टकाकीर्ण पगडण्डी पर उसको चलना पड़ता है। उसका जीवन सबसे अधिक संदिग्ध और सबसे अधिक क्षणभंगुर है। इस पर भी उसकी जिम्मेवारी बहुत बड़ी है। इतनी बड़ी कि उसको सचाई, ईमानदारी और कर्त्तव्य-बुद्धि से निभाना यदि असम्भव नहीं तो नंगी तलवार पर नंगे पैर चलने के समान कठिन

अवश्य है। (लेकिन) आफतों, मुसीबतों और विपरीत परिस्थितियों की घोर घटाओं के पीछे हमें उज्ज्वल भविष्य की एक स्पष्ट रेखा चमकती दीख पड़ती है।''

''ज्योति की यह किरण हमारे लिए दिव्य प्रकाश का पुंज—उज्ज्वल प्रकाशस्तंभ है।'' और ''हमको यह पूरा विश्वास और भरोसा है कि उसके टिमटिमाते उजाले में भी हम अपनी महान आकांक्षाओं को पूरा कर सकेंगे और अपने ध्येय पर कायम रह सकेंगे।'' यह बताकर कहा गया था :

''किसी खास व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय, समूह या दल के लिए 'हिन्दुस्तान' जन्म नहीं ले रहा है।

जिस संस्था की ओर से यह निकाला जा रहा है, उसकी स्थापना पूज्य मालवीय-जी ने सार्वजनिक हित की भावना से की थी और उसका संचालन सदा उसी को सामने रखकर किया गया है। दरिद्रनारायण की सेवा करना उसका एकमात्र लक्ष्य या आदर्श रहा है। उस आदर्श की पूर्ति के लिए उसने बड़े-से-बड़े संकट झेले और मुसीबतें उठायी हैं, किन्तु अपने निश्चित मार्ग से वह डिगी नहीं है। उस मिशन के साथ उसने न कभी कोई सौदा किया है और न समझौता ही। उसी आदर्श को सामने रख और उसी भावना से प्रेरित हो यह 'हिन्दुस्तान' उसी मिशन की पूर्त्ति के लिए प्रकट हो रहा है।''

''हिन्दू-मुसलमान के और सवर्ण-हरिजन के छोटे-बड़े या ऊँच-नीच के जितने भी परस्पर संदेह तथा अविश्वास पैदा करनेवाले भेदभाव इस समय हम लोगों में पाये जाते हैं वे सब बनावटी हैं। 'हिन्दुस्तान' इन सबके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा हाथ में ले प्रकट हो रहा है और सब देशवासियों में हिन्दुस्तान की एक ही व्यापक भावना भर देने की इच्छा, आशा और महत्त्वाकांक्षा के साथ संसार में आँखें खोल रहा है।''

''वह आत्मा, परमात्मा, परलोक और धर्म के ऊँचे और काल्पनिक संसार में न उड़कर मनुष्य-जीवन के इस लोक में ही रहना चाहता है। व्यावहारिक जीवन की आवश्यक बातों की सीधी-सादी भाषा में चर्चा करना उसका काम होगा। (इसलिए) हमारा यह यत्न होगा कि हम भौतिक समस्याओं की वास्तविकता की अधिक चर्चा करें और उनको हल करने में अपनी शक्ति, साधन तथा समय का उपयोग करें। (इसीलिए) अपने चारों ओर की दुनिया को आदर्शवादी की नहीं किन्तु व्यवहारवादी की दृष्टि से देखने का हम यत्न करेंगे।''

अन्त में कहा गया था, ''चारों ओर से आफतों और मुसीबतों से घिरे हुए जीवन में पत्रकार को सबसे बड़ा सहारा है जनता की सहानुभूति का। सर्वसाधारण की संवेदना ही उसकी सबसे बड़ी पूँजी है। बिल्कुल विपरीत परिस्थितियों में लोकमत का बल उसके लिए सबसे बड़ी शक्ति है।'' और विश्वास व्यक्त किया गया था : ''जिस

जनता-जनार्दन की सेवा का व्रत लेकर और जिसके हित संपादन करने में बड़ी-से-बड़ी मुसीबतों को भी तुच्छ समझकर हम कार्यक्षेत्र में उतर रहे हैं, उसकी पूरी सहानुभूति, उसकी सब संवेदना और उसके लोकमत का सारा बल हमको प्राप्त होगा।''

इस लंबी भूमिका के साथ यह कहना स्वाभाविक ही था कि ''इतने बड़े सहारे, इतनी बड़ी पूँजी और इतने बड़े बल के साथ हम 'हिन्दुस्तान' के व्यापक नाम से कार्यक्षेत्र में उतर रहे हैं; इसलिए हमारी सब कमी और कमजोरी, निराशा और प्रतिकूलता दूर हो जाती हैं।''

संपादकीय के सामने पूरे पृष्ठ पर पं० मदनमोहन मालवीय का चित्र इस भूमिका के साथ प्रकाशित किया गया था : ''भारत के राष्ट्रीय पत्रों के निर्माताओं में पूज्य मालवीयजी का स्थान बहुत ऊँचा है और हिन्दी संपादकों के तो आप पथ-प्रदर्शक ही हैं। १८८७ में काला काँकर से निकलनेवाले हिन्दी के सर्वप्रथम दैनिक 'हिन्दुस्तान' (हिन्दोस्तान) के संपादन के साथ आपने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया था। उसके बाद भी आपने अनेक पत्रों का संपादन किया और कई पत्रों की स्थापना भी की। इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध दैनिक 'लीडर' के आप संस्थापक और 'अभ्युदय' तथा 'मर्यादा' के प्रवर्त्तक हैं। हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड के संस्थापक भी आप ही हैं।'' और आशा व्यक्त की गयी थी कि ''आपके शुभ आशीर्वाद से 'हिन्दुस्तान' अपने ध्येय में यथेष्ट सफलता प्राप्त करेगा।''

पत्र को अंग्रेजी पत्र 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के साधन उपलब्ध थे, जिससे उस समय हिन्दी-पत्रों में उसे सर्वाधिक साधन-सुविधा-सम्पन्न कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मूल्य भी उसके आकार, पृष्ठ संख्या, अच्छे काग़ज और अच्छी छपाई को देखते दो पैसे (आजकल के तीन पैसे) कम ही कहा जा सकता था। इन साधनों और सुसम्पादन से उसका शीघ्र व्यापक प्रसार होना स्वाभाविक ही था। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' राजधानी का सर्वाधिक लोकप्रिय और संगठित पत्र था, शहरों के साथ-साथ कसबों और गाँवों तक में फैली हुई उसकी एजेंसियों ने तत्काल उसे सब जगह पहुँचा दिया। पत्र की लोकप्रिय नीति-रीति तथा इन साधनों ने जल्दी ही उसे लोकप्रिय बना दिया और वह जम गया।

लोकप्रियता में सम्पादकीय योगदान

मैं 'हिन्दुस्तान' में, उसके निकलने के लगभग दो मास बाद जून के दूसरे पक्षारम्भ में आया, इस तरह लगभग उसके प्रारम्भ से ही मेरा उससे सम्बन्ध मानना चाहिए। वैसे उसके प्रथमांक (कांग्रेस अंक) में भी मेरा लेख था, इस तरह प्रथमांक में भी मेरा

योगदान था ही। लेकिन जिस रूप में वह निकला वह निश्चय ही पारसनाथ सिंहजी के निर्देशन में सत्यदेवजी की सूझबूझ और संगठनक्षमता का परिणाम था।

'हिन्दुस्तान टाइम्स' उन दिनों नया बाजार (श्रद्धानन्द बाजार) से निकलता था। उसी इमारत में ऊपर बग़ल का स्थान 'हिन्दुस्तान' के सम्पादकीय विभाग को मिला हुआ था। जगह कम थी और चौड़ी कम तथा लम्बी ज्यादा थी, जिससे मेजें जोड़कर इधर-उधर सहायक लोग बैठते थे और सम्पादक सत्यदेवजी सिरे की मेज पर सबकी ओर मुँह करके। एसोशिएटेड प्रेस और यूनाइटेड प्रेस नाम की समाचार-एजेंसियाँ उस समय थीं, पर 'हिन्दुस्तान' के लिए अलग से उनकी सर्विस न ले 'हिन्दुस्तान टाइम्स' को प्राप्त तारों से ही काम चलाया जाता था। इससे एक ओर उनका खर्च बचता, दूसरे उन्हें छाँटने और उनका सम्पादन करने का झंझट बचता। अंग्रेजी वाले उन्हें एडिट करके छपने को भेजते, कम्पोजिंग के बाद, उनके प्रूफों की एक कापी 'हिन्दुस्तान' में आ जाती। उसमें हेडिंग तक लगे होते। इससे देने लायक समाचार छाँटने में बड़ी सहूलियत होती, सम्पादन के बजाय अनुवाद मात्र का काम रहता और शीर्षक सोचने में दिमाग बहुत लड़ाना न पड़ता। समाचार का महत्त्व तय करने की सहूलियत भी रहती, क्योंकि अंग्रेजी में किये डिसप्ले से समाचार के महत्त्व का भी पता चल जाता।

अंग्रेजी पत्र के साथ निकलने की यही सहूलियत नहीं थी; देश के सभी भागों में फैले हुए उसके संवाददाताओं से प्राप्त समाचार भी इसी तरह सम्पादित-संशोधित मिल जाते और विदेशों के भी। हिन्दी के और किसी पत्र को यह सुविधा सम्भव नहीं थी। फिर अपने क्षेत्र में संवाददाता भी 'हिन्दुस्तान' ने बनाये, कुछ कार्यकर्त्ता तथा सार्वजनिक वृत्तिवाले अपने आप भी स्थानीय समाचार भेजते। इससे 'हिन्दुस्तान' को सर्वभारतीय रूप भी सहज ही प्राप्त हो गया।

इस तरह 'हिन्दुस्तान' ने जल्दी ही अपना स्थान बना लिया और उसकी बिक्री ही नहीं बढ़ी, आमदनी के साधन विज्ञापन भी बढ़ने लगे। आर्थिक स्थिति 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की भी उस समय बहुत अच्छी नहीं थी, लेकिन उसके पीछे अर्थबल था और पारसनाथजी के आने के बाद स्थिति सुदृढ़ करने का प्रयत्न शुरू हो गया था। श्रीदेवदास गांधी की व्यावहारिक बुद्धि ने बाद में उसे और सुव्यवस्थित किया, जिससे आगे चलकर पत्र और प्रेस नयी दिल्ली आये तथा समृद्धि और विस्तार का जमाना आया।

साधनों की सुविधा के साथ-साथ 'हिन्दुस्तान' को लोकप्रिय और व्यापक बनाने में सम्पादकीय योगदान भी कम नहीं रहा। सत्यदेवजी देशभक्ति और सार्वजनिक भावना से ओतप्रोत ही नहीं थे; वर्धा, नागपुर और कलकत्ता के अपने कार्यकाल में उन्होंने सार्वजनिक कार्यों में योगदान कर देशसेवकों और खासकर राजस्थानियों में अपनापन

पैदा कर लिया था ।[1] प्रचार-कार्य में भी वह निपुण थे । 'हिन्दुस्तान' का काम सँभालने पर उसका उन्होंने पूरा उपयोग किया और राजस्थानी (रियासती) समस्याओं तथा आन्दोलनों को अपनाकर वहाँ 'हिन्दुस्तान' को लोकप्रिय बनाने में उनका बहुत योग रहा । राजस्थान और रियासती जनता से मेरा भी सम्बन्ध रहा है, इसलिए मैं स्वानुभव से कह सकता हूँ कि उस समय 'हिन्दुस्तान' उनका अपना पत्र था और उसके लिए वहाँ बहुत स्थान था । उसका प्रभाव भी ऐसी हालत में निश्चय ही सर्वाधिक था ।

सम्पादकीय साथी और कार्य-पद्धति

'हिन्दुस्तान' में मैं आया उससे पहले ही, कोई पन्द्रह दिन पूर्व, अवनीन्द्रजी (श्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार) उसमें आ चुके थे । श्री मोहनसिंह सेंगर शुरू से ही उसमें थे और सम्भवतः सर्वप्रथम नाइट-ड्यूटी उनकी होने से प्रथमांक के प्रथम पृष्ठ में उनका सर्वाधिक योगदान रहता था । श्री सूर्यकान्त विद्यालंकार ने भी 'हिन्दुस्तान' के सम्पादकीय विभाग में काम किया, जो बिल्कुल अपटूडेट रहते थे और बाद में एम० ए० करके कॉलेज-प्राध्यापक के रूप में मशहूर हुए । सम्पादकाचार्य अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के पुत्र श्री फणीन्द्र वाजपेयी से भी 'हिन्दुस्तान' में ही परिचय हुआ, जो थे तो विविध गुणसम्पन्न पर स्थायी रूप से व्यापार-पृष्ठ देखते थे । कुछ और लोग भी थे, पर विशेष सम्बन्ध जॉब मैनेजर और मुद्रक-प्रकाशक पं० देवीप्रसाद शर्मा से ही ऐसा हुआ जो कभी मिटा नहीं । देवीप्रसादजी किसी समय दिल्ली के साहित्यिकों में भी अपनी टाँग रखते थे और क्रांतिकारियों से भी उनके सम्बन्ध रहे थे । उनके संस्मरण कभी खत्म नहीं होते, बातचीत और मिलनसारी से सभी को वह अपना बना लेते । इसी कारण बड़े-छोटे सबसे उनके सम्पर्क रहे और सभी को उन्होंने अपना बनाये रखा ।

सहायक सम्पादकों की बहुत संख्या उस समय नहीं थी । विशेष संवाददाता तो दूर, स्थानीय संवाददाता भी उस समय कोई नहीं था । 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की खबरों से ही काम चलाते थे । डाक-संवाद जरूर अंग्रेजी के अलावा भी आते थे, कुछ अपने-आप और कुछ संवाददाताओं की बढ़ती हुई संख्या के द्वारा । पूरे दो पृष्ठ उन्हीं को दिये जाते थे और उन्हें ऐसे दिया जाता कि दूर-दूर के गाँवों तक का प्रतिनिधित्व उनमें होता । कई बार तो मैंने देखा कि हमारे डाक-पृष्ठ से समाचार संग्रह कर अंग्रेजी के संवाददाता डाक से या तार द्वारा 'हिन्दुस्तान टाइम्स' को भेजते और इस तरह बाद में वे उसमें निकलते थे । फिर भी मनोवृत्ति की बलिहारी कि अंग्रेजी के बजाय हिन्दी में ही सब पिछड़ापन देखते ।

मैं शुरू-शुरू में साप्ताहिक की तैयारी में ही प्रवृत्त रहा, लेकिन फिर पता नहीं क्यों उस समय उसका विचार छोड़ दिया गया और तब दैनिक के काम में ही मैं भी

लग गया। समाचारों के साथ-साथ डाक का, यानी डाक से संवाददाताओं तथा अन्यों द्वारा प्राप्त संवादों के संपादन का काम भी मैं करता। यों स्वयं सत्यदेवजी डाक के समाचारों में बहुत दिलचस्पी रखते थे और अक्सर खुद भी उन्हें तैयार करते। परन्तु मेरे आने के बाद डाक से आये पेचीदा संवाद वह अक्सर मुझे करने को देते, क्योंकि रियासती समस्याओं तथा रियासती लोगों से मेरा औरों की अपेक्षा सर्वाधिक सम्पर्क था और वर्धा में 'राजस्थान केसरी' में उनके साथ मैं काम भी कर चुका था। अग्रलेख शुरू-शुरू में सत्यदेवजी ही लिखा करते थे। रविवासरीय संस्करण उस समय था ही नहीं।

दैनिक के कार्य में उस समय समाचारों का पूरा पृष्ठ एक ही व्यक्ति के सुपुर्द होता था; रात की ड्यूटी में प्रथम पृष्ठ, सवेरे की ड्यूटी में विदेशी समाचारों का पृष्ठ और दोपहर की ड्यूटी में मिल-जुलकर सभी पृष्ठों का काम। दिल्ली-समाचार शाम से रात तक किये जाते और व्यापार-पृष्ठ ज्यादातर रात में। अंग्रेजी में सम्पादित होकर कम्पोज हुए समाचारों के गैली प्रूफ मिल जाने से उन्हें हिन्दी में करना सुविधाजनक ही था और रात की ड्यूटी में अंग्रेजी वालों के साथ बैठने से प्रेस में उनके मैटर भेजने से पहले ही उन्हें हिन्दी में कर लेने की जल्दी में अक्सर मुख्य काम बड़ा जल्दी खत्म हो जाता था।

पारसनाथ सिंहजी उन दिनों 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के मैनेजिंग डाइरेक्टर थे, उन्हों की देख-रेख व सलाह से काम होता था। देवदास गांधी भी थे, पर उस समय वह बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स के सेक्रेटरी के रूप में धीरे-धीरे काम पर हावी होने की तैयारी में थे और प्रत्यक्ष कोई हस्तक्षेप या परामर्श उनका नहीं था। पोथन जोजफ 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के सम्पादक थे, जो शराब खूब पीते थे पर लिखने में उन्हें कमाल हासिल था। 'ओवर ए कप ऑफ टी' उनका बहुत लोकप्रिय स्तम्भ था और एक जरूरी मौके पर सीधे लाइनोटाइप मशीन पर बोलकर कम्पोज कराया हुआ उनका अग्रलेख बहुत बढ़िया रहा था। श्री भारती और सुब्रह्मण्यम् भी सम्पादकीय लिखने में उनके सहायक थे, जिनमें सुब्रह्मण्यम् साहब अग्रलेख और भारतीजी टिप्पणियाँ लिखा करते थे।

श्री चमनलाल 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के संवाददाता और विशेष संवाददाता, जो भी कहो, थे। अर्थमंत्री के ऊपर प्रेस गैलरी से पोर्टफोलियो फेंकने से वह काफी मशहूर हुए। यों भी दिल्ली के सार्वजनिक जीवन के कुछ लोगों से उनके सम्पर्क थे और यह एक बहु प्रचारित बात है कि एक बार कोई आकर्षक समाचार न मिलने पर सुभाष बाबू के बारे में उन्होंने ऐसा समाचार बनाकर दिया कि कांग्रेस में उनके उग्र योगदान की संभावना सूँघकर सरकार ने सुभाष बाबू को बन्दी बना लिया है। श्री चमनलाल

के बारे में कुछ और बातें भी सुनी गयीं पर थे वह जोशीले और मजेदार। बाद में तो वह बौद्ध भिक्षु बन गये और जापान में काफी रहने तथा विदेश भ्रमण के बाद अमरीका में हिन्दू संस्कृति पर भी उन्होंने प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। हाल में पत्रकारों के लिए एक पुरस्कार भी उन्होंने जारी किया है।

इन सबके परिश्रम का लाभ उठाने की सुविधा 'हिन्दुस्तान' को थी ही। इसी तरह अनुकूल परिस्थितियों में वह बढ़ता रहा। इन्द्रजी का 'अर्जुन' उसकी प्रतिस्पर्धा में क्षीण पड़ गया और उसके व्यक्ति 'हिन्दुस्तान' में आने की इच्छा करने लगे। और पत्र भी उससे बढ़-चढ़कर नहीं हो सकते थे, क्योंकि साधन 'हिन्दुस्तान' के उनसे अधिक थे और दूसरे पत्र अपेक्षाकृत अधिक खर्च करके भी वैसे साधन प्राप्त नहीं कर सकते थे। खुद राजस्थान से भी जब दैनिक पत्र निकलने लगे तब भी उनकी समग्र ग्राहक-संख्या से अधिक संख्या में 'हिन्दुस्तान' वहाँ पहुँचता था, क्योंकि साधनाधिक्य के अलावा दिल्ली पत्र को सर्वत्र पहुँचाने की दृष्टि से केन्द्र स्थान है तथा अंग्रेजी पत्र की एजेंसियों के साथ हिन्दी पत्र भी सर्वत्र पहुँच सकता था।

इस तरह 'हिन्दुस्तान' ने बहुत जल्द हिन्दी पत्रों में अपना स्थान बना लिया और सर्वाधिक प्रसार वाला पत्र बन गया। हम जो उसमें काम करते थे उन्हें भी इससे सहज ही विशिष्टता प्राप्त हो गयी।

१४ पाँच साल में स्थानापन्न संपादक

'हिन्दुस्तान' में आने का यों तो कोई तात्कालिक लाभ मुझे नहीं था, क्योंकि 'अर्जुन' में इन्द्रजी मुझे 'साप्ताहिक अर्जुन' का संपादक बनाने और वेतन बढ़ाने का अपनी तरफ से निर्णय कर चुके थे, जबकि 'हिन्दुस्तान' में उस संभावित वेतन से ज़्यादा वेतन नहीं मिला था और संपादक बनने की तो उस समय कोई संभावना ही नहीं थी, लेकिन मन में इस बात का संतोष था कि संपादक बनने का आया हुआ अवसर संपादक पद की गरिमा को कम न करने और मित्र के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करने से मुझे विरत न कर सका।

साथ ही सत्यदेवजी से अपने पूर्व सम्बन्ध एवं उनकी आत्मीयता के कारण ऐसा भी लगता था कि मैं किसी अपरिचित जगह नहीं जा रहा हूँ। फिर अपने प्रति पारसनाथ सिंहजी के सद्भाव का भी पूर्ण आभास था, जिनके आमन्त्रण पर ही मैं 'हिन्दुस्तान' में आया।

लेकिन अगर मैं यह कहूँ तो किसी के प्रति दुर्भाव के बजाय सचाई का इजहार ही होगा कि नयी जगह वातावरण उतना सौमनस्यपूर्ण नहीं मिला।

तनाव का वातावरण

सत्यदेवजी का व्यवहार जाहिरा आत्मीयतापूर्ण ही था, अन्य किसी से भी मेरा कोई झगड़ा या मनमुटाव कभी नहीं हुआ; लेकिन सत्यदेवजी के प्रति पूरा आदर-भाव रखते हुए भी मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि पता नहीं पारसनाथजी से मेरे संपर्क के कारण या क्यों उन्हें अपने प्रति मैंने कुछ सशंक और खिचा-खिचा अनुभव किया।

मामा शंकरलालजी के 'हिन्दुस्तान' में आ जाने के बाद कुछ ऐसा प्रचार भी हुआ कि सत्यदेवजी और विद्यालंकारों के खिलाफ मैं अपना गुट बना रहा हूँ, यद्यपि सत्यदेवजी ने जब-जब मामाजी को 'हिन्दुस्तान' में बुलाने की बात मुझसे कही तब-तब मैंने यह कहकर असहमति ही व्यक्त की थी कि रिश्तेदारों का एक जगह काम करना ठीक नहीं और मामाजी को 'हिन्दुस्तान' में आने का निमन्त्रण उन्होंने तब भेजा था जब मैं छुट्टी पर दिल्ली से बाहर गया हुआ था।

फलतः भाई अवनीन्द्रजी तक में तनाव मैंने देखा, यद्यपि धर्मवीर वेदालंकार के घर उनके साथ रहने से उनसे मेरा अच्छा सम्बन्ध हो गया था और उनकी नियुक्ति से पहले

पारसनाथजी के मुझसे उनके बारे में पूछने पर मैंने उनके अनुकूल ही अपना मत व्यक्त किया था। उनकी नियुक्ति से पूर्व एक समय ऐसा भी आया था जब पारसनाथजी उन्हें छोड़ मुझे और भाई कृष्णचन्द्र विद्यालंकार को ही रखना चाहते थे, पर भाई मार्तण्डजी के द्वारा मैंने इसका विरोध किया था और कहलवाया था कि 'अर्जुन' से मुझे या कृष्णजी किसी एक को ही लें और अवनीन्द्रजी जिस अखबार में काम कर रहे हैं उसकी स्थिति ठीक नहीं है इसीलिए उन्हें अवश्य लें।

चार्ज सँभालने की स्थिति में कई बार ऐसा भी हुआ कि संपादकीय लिखने के अलावा समाचारों की पूरी ड्यूटी भी करनी होती, लेकिन आश्चर्य तब हुआ जब छुट्टी से लौटते ही सत्यदेवजी ने मुझे नाइट ड्यूटी में डाल दिया और सप्ताह पूरा होने पर भी नाइट डयूटी से मैं तभी हटा जब सत्यदेवजी की आकस्मिक अनुपस्थिति में अवनीन्द्रजी ने डयूटी लगाने का काम किया।

मैंने देवदासजी (जो उस समय मैनेजिंग डाइरेक्टर थे) या अन्य किसी से इसकी शिकायत नहीं की, पर ऐसा जरूर लगा कि मुझे चार्ज सत्यदेवजी ने अपनी मर्जी से नहीं बल्कि संभवतः किसी के आदेश पर दिया होगा। संभवतः इसी कारण दुबारा क्या, जब भी सत्यदेवजी लम्बी छुट्टी गये तब-तब चार्ज उन्होंने मुझे ही दिया। यहाँ तक कि एक बार मेरे हाथ में चोट आ गयी थी, उसके बाद अच्छा होकर दफ्तर आते ही हाथ ठीक तरह नहीं चलता था, फिर भी लम्बी छुट्टी जाते वक्त वह चार्ज मुझे ही देकर गये। एक बार तो कोई तीन महीने वह छुट्टी पर रहे थे, तब भी संपादकीय विभाग का चार्ज मेरे ही पास रहा। यह प्रायः हमेशा ही महसूस हुआ कि वापस आने पर उनका रुख कुछ तना हुआ ही होता।

ऐसी हालत में तनाव का कुछ वातावरण स्वाभाविक था। अवनीन्द्रजी का खिंचना भी अस्वाभाविक नहीं था। एक दिन किसी तरह दशहरे पर जब वह घर आये, मामाजी ने सत्यदेवजी की वह चिट्ठी उन्हें बतायी जिसमें उन्होंने मामाजी को 'हिन्दुस्तान' में आने को आमन्त्रित किया था। उसमें उन्हें वर्धा के दिनों की याद दिलाकर 'हिन्दुस्तान' में आने का निमन्त्रण ही नहीं था, बल्कि यह भी स्पष्ट लिखा था कि मुकुटजी से कई बार इस बारे में मैंने चर्चा की पर वह तो विरोध ही करते रहे; अब जब वह यहाँ नहीं हैं, छुट्टी पर हैं, तब मैं आपको 'हिन्दुस्तान' में आने को लिख रहा हूँ।

अवनीन्द्रजी दिल के बुरे नहीं, बोलने में संयम जरूर नहीं रखते; अतः इस पर उनकी प्रतिक्रिया क्या हुई, यह बताने के बजाय समझने की ही चीज़ है। मेरे लिए यही बहुत था कि उनके मन में बैठी हुई एक बड़ी ग़लतफ़हमी दूर हो गयी और संभवतः मेरे तथा मामाजी के प्रति उनका दुर्भाव भी कम से कम उस समय तो खत्म हो ही गया।

'उस समय' मैं इसलिए कहता हूँ कि सत्यदेवजी ने जब 'हिन्दुस्तान' छोड़ा और देव-

दासजी ने मुझे स्थानापन्न संपादक बनाया तो अवनीन्द्रजी की भावना को स्वभावतः चोट लगी। मेरे प्रति दुर्भाव उनके मन में हुआ, ऐसा तो मैं नहीं मानता; पर मन की चोट उद्विग्न करती और तनाव पैदा करती ही है।

जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं इससे ज़्यादा क्या कर सकता था कि सत्यदेवजी का त्यागपत्र मिलने पर देवदासजी ने रात की ड्यूटी में से मुझे बुलवाकर जब सत्यदेवजी से कार्य-भार ग्रहण करने को कहा तो मैंने अवनीन्द्रजी को आपत्ति होने की उन्हें याद दिलायी थी। देवदासजी ने कहा, मैं उनसे बात कर लूँगा। इसके बाद उन्होंने अवनीन्द्रजी से बात की थी, पर मेरे कार्यभार ग्रहण की बात सुनकर ही शायद वह संयम खो बैठे और कुछ ऐसा जवाब देवदासजी को दिया जो उन्हें पसन्द नहीं आया और यह ख़याल तक उनका हो गया था कि अवनीन्द्रजी अब काम पर नहीं आयेंगे।

लगा काम छोड़ना आसान बात नहीं, इसलिए अवनीन्द्रजी ने काम तो नहीं छोड़ा पर उद्विग्न मन को शान्त रखना भी सहज बात नहीं। मन की उद्विग्नता बाँध छोड़ अक्सर शब्दों में मुखर होती। पर मेरे अपने मन में उनके प्रति कोई दुर्भावना नहीं थी, न उन्हें नीचा दिखाने का भाव था; बल्कि उनकी उद्विग्नता को मैं महसूस करता था। वह संपादक बनते और मैं न बनता तो शायद मेरी भी ऐसी ही मनोदशा होती। इस लिए मैंने सोचा कि सहन करना ही ऐसी हालत में मेरा काम है।

यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि अपने उद्वेग और मेरे प्रति उबाल के बावजूद काम में कोई कमी अवनीन्द्रजी ने कभी नहीं की। बल्कि संपादकीय लिखने का काम उन्हें दिया गया तो पूरे दो कालम के अग्रलेख-टिप्पणियाँ ही वह नहीं लिख डालते थे, बल्कि उस पूरी जगह में उनके ही लिखे सब लेख न जाने पर वह आपत्ति भी करते थे। साथ में जरूरत पड़ने पर समाचार भी वह करते, या छाँटकर दूसरों को करने को देते थे। ज़्यादा लिखने में कोई उन्हें मात नहीं कर सकता था।

स्थानापन्न सम्पादक

१९३६ के जून महीने में मैं 'हिन्दुस्तान' में आया था, पाँच वर्ष सत्यदेवजी के मातहत काम करने के बाद १९४१ में उसकी बागडोर मेरे हाथ में आयी। वह यों कि पता नहीं क्यों सत्यदेवजी ने 'हिन्दुस्तान' छोड़ने का विचार किया और कलकत्ता के 'विश्वमित्र' का दिल्ली से संस्करण निकालने का सरंजाम कर लेने के बाद १९४१ के सितम्बर महीने में जब देवदासजी को सचमुच उनका त्यागपत्र मिल गया तो उसी रात—सम्भवतः वह गुरुवार था—नाइट ड्यूटी से मुझे बुलाकर 'हिन्दुस्तान' के सम्पादन का कार्यभार ग्रहण करने के लिए देवदासजी ने मुझ से कहा।

सत्यदेवजी के त्यागपत्र से मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि 'विश्वमित्र' का उनके

द्वारा डिक्लेरेशन दिये जाने की बात मुझे पहले से मालूम थी। यह सच है कि 'हिन्दुस्तान' छोड़कर 'विश्वमित्र' में उनकी जाने की बात मुझे समझ में नहीं आयी थी। इसीलिए देवदासजी ने बीच में एक बार इस सम्बन्ध में मुझसे बात की थी तो मैंने यही कहा था कि मुझे ऐसा नहीं लगता, और अगर जायेंगे तो आपको पूर्वसूचना तो देंगे ही। बाद में एक बार सत्यदेवजी से भी मैंने बातचीत में यही बात कही थी। उन्होंने उसके जवाब में यही कहा था : मेरे लिए ऐसा करना अनिवार्य हो गया था, मैं स्वयं न छोड़ता तो भी मुझे 'हिन्दुस्तान' छोड़ना ही पड़ता।

सत्यदेवजी की बात गलत नहीं होगी, पर इसके पीछे वास्तविकता क्या थी, यह अच्छी तरह आज भी मैं नहीं जानता। ऐसी कुछ चर्चा जरूर थी कि सत्यदेवजी की कुछ बातों से संचालकों और उनके मध्य सौमनस्य नहीं रहा है; लेकिन मेरा आज भी यही ख़याल है कि सत्यदेवजी स्वयं इस्तीफ़ा नहीं देते और अपनी बाहरी प्रवृत्तियों को कम कर लेते तो संचालकों की ओर से उन्हें हटाने की पहल शायद नहीं ही होती।

सत्यदेवजी के जाने से मुझे खुशी हुई हो, ऐसा मैं अब भी नहीं मानता। बल्कि मुझे अच्छी तरह याद है, जब देवदासजी ने तत्काल चार्ज ले लेने को कहा तो मैंने यही कहा था : ऐसी जल्दी क्या है, नाइट ड्यूटी तो पूरी कर लूँ, उसके बाद ले लूँगा। यही नहीं, देवदासजी की इच्छा के विरुद्ध सत्यदेवजी को दफ्तर की ओर से पार्टी देने की बात भी उनसे मैंने मंजूर करा ली थी। शर्त उन्होंने यही रखी थी कि निमंत्रण मेरे और देवीप्रसादजी (मुद्रक-प्रकाशक) के नाम से होंगे और पार्टी दफ़्तर की तरफ से होते हुए भी यह ज़ाहिर नहीं किया जायगा कि वह दफ़्तर की तरफ़ से की जा रही है। खुद देवदासजी का उसमें शरीक होना भी मैंने स्वीकार करा लिया था और चूँकि सोम या मंगलवार को ही वह मुक़दमे के लिए इलाहाबाद जा रहे थे इसलिए सोमवार को ही पार्टी का आयोजन निश्चित किया था।

अफ़सोस कि परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हुईं कि पार्टी हो नहीं पायी। कारण यह हुआ कि इस बीच अवनीन्द्रजी से देवदासजी की जो बात हुई वह ठीक नहीं रही थी, दूसरे, सोमवार को सत्यदेवजी भी दोपहर तक दफ्तर नहीं पहुँचे, घर दो बार मोटर भेजने पर भी जब वह वहाँ नहीं मिले, तो देवदासजी ने मुझे बुलाकर कहा : अवनीन्द्रजी ने जिस ढंग से बात की उससे लगता है कि शायद वह अब दफ्तर आयें ही नहीं और सत्यदेवजी का भी कुछ ठीक नहीं कि कहाँ गये हैं, अतः पार्टी के बजाय दफ्तर के काम की फिक्र करनी चाहिए।

इस तरह सत्यदेवजी की विदाई-पार्टी का मेरा आयोजन व्यर्थ हो गया। इसका दुःख तो मुझे हुआ ही, पर एक अन्य बात से और भी आश्चर्य तथा दुःख हुआ।

सत्यदेवजी के 'हिन्दुस्तान' छोड़ने में मेरा कोई हाथ न होने और उलटे उनके जाने पर उनके सम्मान की चेष्टा करने पर भी, सत्यदेवजी जब दफ़्तर आये तो कुछ खिंचे हुए से। हमारे कमरे में आने पर मैंने नमस्कार किया तो उसका भी जवाब तक नहीं दिया।

अवनीन्द्रजी का मनोद्वेग तो मैं समझ सकता था, पर सत्यदेवजी का रुख समझ में नहीं आया। फलतः देवदासजी के कहने पर भी मेरी हिम्मत उनसे चार्ज माँगने की नहीं हुई, स्वयं उन्हींने बाद में मुझे बुलवाकर उस महीने का लेखकों-संवाद-दाताओं का बनाया हुआ बिल मुझे दिया और कहा कि इस पर दस्तख़त अब आप करेंगे। बस इसी रूप में 'हिन्दुस्तान' के सम्पादन का चार्ज मुझे मिला और, जहाँ तक मुझे याद आता है, २ अक्तूबर १९४१ से स्थानापन्न सम्पादक के रूप में मेरा नाम 'हिन्दुस्तान' पर जाने लगा।

मूल्यांकन की कसौटी

दुर्भाग्यवश तनाव का वातावरण मेरे स्थानापन्न सम्पादक बनने और बाद में स्थानापन्न शब्द हट जाने पर भी जारी रहा। इसे अपनी अकुशलता ही कह सकता हूँ कि जिन्हें मेरी ही सिफ़ारिश पर रखा गया ऐसे लोगों ने भी पता नहीं क्यों ऐसी शिकायतें तक मेरे ख़िलाफ़ कीं जिनकी कोई बुनियाद नहीं थी। यह तो भगवान की कृपा ही माननी चाहिए कि कुछ समय के लिए मुझे उद्विग्न करने के सिवा उनका कोई परिणाम नहीं हुआ।

यह भी मैं ईश्वरीय कृपा ही मानता हूँ कि ऐसे लोगों के प्रति भी कोई दुर्भावना मैंने नहीं रखी और इस कारण उनके हितावरोध का कोई काम मैंने नहीं किया। मैंने तो सदा यही माना कि जब सर्वप्रधान हुआ हूँ तो सबके हितों का ध्यान रखना ही मेरा काम है और अपने प्रति उनके व्यवहार से नहीं बल्कि अखबार के उनके काम से ही उनका मूल्यांकन करना चाहिए।

■

'हिन्दुस्तान' की रीति-नीति

'हिन्दुस्तान' ने पीड़ित लोगों में, खासकर राजस्थान में, अपना स्थान सत्यदेवजी के समय ही बना लिया था। इसका कारण यह था कि लोगों की शिकायतों, उन पर होनेवाले अन्याय-अत्याचारों को वह खुलकर सामने लाता था। यहाँ तक कि सीकर-आन्दोलन को लेकर कुछ लोगों ने ऐसी बातें भी फैलायीं कि शुद्ध जन-सेवा के अलावा स्वार्थ-साधन भी उसके पीछे था। इस आक्षेप की सचाई का मुझे कोई पता नहीं, परन्तु यह तथ्य है जिस गरमजोशी से उस आन्दोलन को 'हिन्दुस्तान' ने अपनाया उससे वह लोकप्रिय खूब बना।

इसी तरह जयपुर-प्रजामंडल के आन्दोलन को अपनाकर भी उसने खूब लोकप्रियता प्राप्त की। इस आन्दोलन से कुछ मेरा भी सम्पर्क रहा, इसलिए मैं जानता हूँ कि सेठ जमनालाल बजाज और हीरालाल शास्त्रीजी के नेतृत्व में संचालित इस आन्दोलन की गतिविधि से एक समय बिड़लाजी का कुछ मतभेद भी हो गया था और 'हरिजन' के लिए लिखित महात्मा गांधी के तत्संबंधी लेख को दिल्ली से प्रकाशित 'हरिजन सेवक' में छपने से श्री महादेव देसाई के द्वारा उन्होंने रुकवा दिया था। लेकिन गांधीजी शायद बिड़लाजी से सहमत नहीं हुए, अथवा जमनालालजी का पक्ष उन्हें ज़्यादा ठीक लगा फलतः अगले अंक में वह प्रकाशित हुआ था।

'हिन्दुस्तान' ने बिड़लाजी के उपर्युक्त दृष्टिकोण के बावजूद जयपुर-आन्दोलन का जोरदार समर्थन किया था। इसका भी लोकमत पर अच्छा असर पड़ा और 'हिन्दुस्तान' की जन पक्ष के समर्थक, राष्ट्रीय एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण वाले पत्र के रूप में ख्याति बढ़ी।

संभव है ऐसी बातों को लेकर संचालकों से सत्यदेवजी के मतभेद बढ़े हों, परन्तु मैंने भी अपने कार्यकाल में इसी नीति का पालन किया। अन्तर केवल इतना रहा कि जनपक्ष का प्रचार और समर्थन करते हुए भी खुद अपने को किसी आन्दोलन में लिप्त मैंने नहीं किया, जबकि सत्यदेवजी किसी न किसी रूप में उसमें लिप्त हुए-से लगते थे। सम्पादक के खुद लिप्त होने से उस पर आक्षेप की, उसके स्वार्थ निहित हो जाने की जो गुंजाइश हो जाती है उसका ऐसी स्थिति में कोई कारण नहीं हो सकता था। फलतः अपने ऐसे रुख के कारण मेरा सम्पर्क सत्यदेवजी की तरह व्यापक नहीं हो पाया, पर 'हिन्दुस्तान' की ख्याति और लोकप्रियता बदस्तूर बढ़ती ही गयी।

मेरे अपने विचार शुरू से ही राष्ट्रीय और गांजीजी से प्रभावित रहे हैं। कांग्रेस के सिवा किसी अन्य राजनोतिक संस्था से मेरा कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। साम्प्रदायिक, धार्मिक या जातिगत संस्थाओं में मेरी कभी कोई दिलचस्पी रही ही नहीं। दिल्ली आने के बाद कांग्रेस का सक्रिय सदस्य भी मैं नहीं रहा, लेकिन मेरी रीति-नीति कांग्रेसानुकूल और गांधीवादी ही रही। सत्यदेवजी आर्यसमाजी थे, मेरे साथ वह बात भी नहीं थी। सत्यदेवजी जहाँ अपने सम्पर्कों के कारण मारवाड़ियों(अग्रवाल और माहेश्वरियों) की सब समस्याओं और उनकी जाति-उपजातियों में भी पूरी पहुँच रखते थे, मैं मानता था कि जब अपनी जाति विशेष में मेरी दिलचस्पी नहीं तो अन्य जातियों के मामलों में दिलचस्पी रखना व्यर्थ है, चाहे उन जाति वालों के द्वारा ही हमारा रोज़गार क्यों न चलता हो। फलतः 'हिन्दुस्तान' का दृष्टिकोण मेरे समय शुद्ध राष्ट्रीय ही रहा।

राष्ट्रीय आन्दोलनों और कांग्रेस का इसीलिए 'हिन्दुस्तान' अन्यतम समर्थक और प्रचारक रहा। राष्ट्रीय नेताओं और राष्ट्रीय समारोहों को भी इसीलिए उससे बहुत प्रसिद्धि मिली। महात्मा गांधी का तो वह अनन्य भक्त रहा ही।

राष्ट्रीय रहने का, पर, यह मतलब नहीं था कि अन्य हलचलों की उसने उपेक्षा की या उनके प्रति उसका विरोधी दृष्टिकोण रहा। अपने विचारों से मेल न रखनेवालों को उसने अवहेलना नहीं की, बल्कि सभी राजनीतिक प्रवृत्तियों को समुचित प्रकाशन देने का उसने सदा ध्यान रखा। आर्यसमाज तो राष्ट्रीय जागृति का संदेशवाहक रहा ही था, हिन्दी को भी उसके द्वारा बहुत बल मिला है, इसलिए उसके विरुद्ध तो विरोधी रुख़ रखा ही नहीं जा सकता था। हिन्दू उग्र विचारों और कम्युनिस्टों तथा आतंकवादियों की विचारधारा से सहमत न होते हुए भी उनकी टोपी-उछाल मेरे समय 'हिन्दुस्तान' में कभी नहीं हुई, न उन लोगों की नीयत पर कभी हमला किया गया। उनकी हलचलों को भी दबाने के बजाय उचित प्रकाशन देने का ही प्रयत्न किया गया। यही दृष्टिकोण विविध आन्दोलनों के साथ रहा।

सामाजिक आन्दोलन का हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। समाज-सुधार के प्रयत्नों के साथ ही वस्तुतः हमारा राष्ट्रीय जागरण शुरू हुआ। अतः सामाजिक हलचलों को 'हिन्दुस्तान' शुरू से ही उचित स्थान देता रहा है। मेरे कार्यकाल में साहित्य की ओर भी 'हिन्दुस्तान' ने ध्यान दिया और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के समय सम्मेलन के सभापति के संदेश के साथ विशेषांक निकालने का क्रम शुरू किया। सम्मेलन की कार्रवाई की विशेष रिपोर्टिंग तथा साहित्यिक और हिन्दी सम्बन्धी हलचलों के प्रकाशन की व्यवस्था की। श्री गोपालप्रसाद व्यास के

सम्पादकीय विभाग में आने के बाद इस दिशा में काफी प्रगति हुई और साहित्यिक क्षेत्रों में भी 'हिन्दुस्तान' ने अपना अच्छा स्थान बना लिया। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का इसीलिए 'हिन्दुस्तान' को और इस नाते मुझे भी स्नेह प्राप्त रहा।

एक घटना का यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। हिन्दी को लेकर राजधानी में एक आयोजन हुआ था, जिसमें विविध भाषाभाषियों ने हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने का समर्थन किया था। 'हिन्दुस्तान' तो हिन्दी का पत्र ही ठहरा, वह हिन्दी का समर्थक न होता यह कैसे संभव था? हिन्दुस्तानी और हिन्दी का उस समय विवाद था और काका साहब कालेलकर तथा अन्य गांधीवादी हिन्दी के बजाय हिन्दुस्तानी के प्रतिपादक थे। देवदासजी गांधीजी के पुत्र थे और उन लोगों से उनके विशेष सम्बन्ध-सम्पर्क थे, संभवतः उन पर दबाव पड़ा होगा कि उनके पत्र 'हिन्दुस्तान' को तो हिन्दुस्तानी का ही समर्थन करना चाहिए।

देवदासजी ने मुझे बुलाकर पूछा : मुकुटजी, 'हिन्दुस्तान' किसका पक्ष ले रहा है। मैंने कहा, हिन्दी का। इस पर उन्होंने हिन्दुस्तानी का प्रतिपादन शुरू किया और गांधीजी द्वारा उसके प्रतिपादन की बात ही नहीं कहीं, यह भी कहा कि विदेशों में तो भारतीयों को हिन्दुस्तानी ही कहा जाता है। मैं इसका कुछ जवाब देता, इतने में उन्होंने अपने पी० ए० से 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' माँगी और उसके द्वारा अपनी बात की पुष्टि करनी चाही। लेकिन उसमें से हिन्दुस्तानी का अर्थ पढ़ना शुरू किया तो निकला, 'लैंग्वेज ऑफ मुगल कांकरर्स इन इंडिया' (भारत को विजय करने वाले मुगलों की भाषा)। बस, उन्होंने डिक्शनरी रख दी और चुप हो गये। उसी समय संभवतः हिन्दु-स्तानी के किसी वरिष्ठ प्रतिपादक का फोन आया तो उनसे मिलना उन्होंने टाल दिया और बात आयी-गयी हो गयी।

ऐसा ही युक्तियुक्त रुख देवदासजी का रहता था और आदेश के बजाय युक्तियों द्वारा अपनी बात गले उतरवाने का ही वह तरीका अपनाते थे, इससे अप्रिय हस्तक्षेप जैसी नौबत कभी नहीं आयी। इसके अलावा उनकी अपनी कुछ मर्यादाएँ भी थीं। महात्मा गांधी के वह पुत्र थे, सार्वजनिक और पत्रकार का जीवन भी उनका रहा था, इसलिए मालिकों के तथा सार्वजनिक हितों में वह सामंजस्य रखते थे। फलतः मेरे जैसे व्यक्ति को उनके अधीन बढ़ने का अवसर ही नहीं मिला, मुझे अपने सार्वजनिक दृष्टि-कोण से पीछे हटने की जरूरत भी नहीं हुई।

मेरे तौर-तरीके

यह अवश्य है कि असंयत रूप मैंने कभी ग्रहण नहीं किया। अपने तरीके बताने के लिए मैं मथुरा में हुए हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के समय की एक घटना का उल्लेख

करूँगा। वहाँ श्री पद्मसिंह शर्मा कमलेश एक ऐसे वरिष्ठ पत्रकार से हिन्दी के बारे में बात कर रहे थे जिनका मैं आदर ही नहीं करता था बल्कि जिन्हें बड़े भाई की तरह मानता था। वह हिन्दी का पक्ष लेते हुए गांधीजी और जवाहरलालजी की तीव्र आलोचना कर रहे थे। अचानक मैं वहाँ पहुँचा तो कमलेशजी ने मेरे भी विचार जानने चाहे। मैंने कहा कि हिन्दी का तो मैं भी समर्थक हूँ, पर अन्य मत रखने वालों के प्रति मैं असहिष्णु नहीं होना चाहता और किसी की आलोचना ही करनी हो तो यह सोचना ही पड़ेगा कि किसके खिलाफ़ हम क्या कह रहे हैं। गांधीजी और नेहरूजी हमारे ऐसे नेता हैं जिनके बारे में कुछ कहते वक्त हमें सौ बार सोचना पड़ेगा और शालीनता तो कभी छोड़नी ही नहीं चाहिए।

अपने ऐसे संयत रुख के कारण ही ऐसे समय भी मैं कांग्रेस का समर्थन कर सका जबकि ऐसा करना बहुत कठिन था। दो ऐसे प्रसंग इस समय मुझे अच्छी तरह याद आ रहे हैं। एक तो ग्वालियर में जबकि बिड़लाजी के आदमी भी उम्मीदवार थे, 'हिन्दुस्तान' ने कांग्रेसी उम्मीदवारों का ही समर्थन किया। अवश्य ही बिड़लाजी के आदमी के विरुद्ध कभी कुछ नहीं लिखा, न कांग्रेस के उम्मीदवारों का व्यक्तिगत प्रचार ही किया; ऐसा करता तो परेशानी हो सकती थी। मैंने जो किया वह यह कि ऐसी उग्रता से बचते हुए सामान्य रूप में कांग्रेस का समर्थन मात्र किया और इसका असर भी अच्छा ही हुआ।

ऐसे ही एक चुनाव में 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के एक प्रमुख व्यक्ति के उम्मीदवार होने पर हुआ। श्री दुर्गादासजी का उस समय 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में बहुत प्रभाव था. बिड़लाजी के वह खास आदमी माने जाते थे। स्वयं मैं भी उनके गुणों और उनकी क्षमता का क़ायल हूँ, उनके प्रति मेरा आदर भी किसी से कम नहीं। परन्तु वह कांग्रेसी उम्मीदवार नहीं थे, इसलिए मैं या 'हिन्दुस्तान' उनका समर्थन कैसे करता? मुझे मालूम है कि किस तरह उन्हें नाराज़ न करते हुए भी 'हिन्दुस्तान' ने उनका समर्थन कभी नहीं किया। वह इस तरह कि उनके प्रचार की सामग्री को छपने से तो मैंने नहीं रोका, पर उनके समर्थन में संपादकीय रूप से कभी कुछ नहीं लिखा गया। संपादकीय रूप में सदा कांग्रेस का ही समर्थन 'हिन्दुस्तान' ने किया।

इसी चुनाव में हमारे हिन्दी के एक साथी ने भी दुर्गादासजी का अनुसरण किया। वह दिल्ली-असेम्बली के लिए उम्मीदवार हुए। पता नहीं कैसे उन्हें यह ख़याल हो गया कि कांग्रेसी उम्मीदवार कमजोर है और वह कामयाब हो जायेंगे। मुझे लगी तो यह उनकी ख़ामख़याली ही, पर जब मैंने देखा कि दुर्गादासजी के चुनाव-समाचार निकलते हैं और उनकी छपाई का काम हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस में मुफ्त होता है तो उनके लिए भी देवदासजी से ऐसी ही व्यवस्था की माँग की। अलबत्ता, इतने पर भी, उनके पक्ष

में संपादकीय रूप में कभी नहीं लिखा गया। संपादकीय रूप में तो सदा कांग्रेस का समर्थन और कांग्रेसी उम्मीदवारों को ही मत देने का प्रतिपादन किया गया।

ऐसे समय परेशानी कम नहीं होती और जरा-सी असावधानी में काम बिगड़ सकता है। इसलिए बहुत फूँक-फूँककर कदम रखना पड़ता था। लेकिन यह सिर-दर्द मेरा ही नहीं था, कुछ ऐसी ही स्थिति देवदासजी के साथ भी थी। कहने को वह सब कुछ थे, पर एक हद तक समझौता उन्हें भी करना पड़ता था। हिन्दी साथी के बारे में जब मैंने उनसे बात की तब उन्होंने अपनी परेशानी बतायी थी और मैंने देखा कि अक्सर रात को वह जानेवाली सामग्री पर स्वयं नजर डालते थे तथा ऐसी काट-छाँट करते थे जिससे प्रचार-सामग्री के बावजूद अपनी नीति का भंग न हो।

'हिन्दुस्तान' की ऐसी सुसम्बद्ध और संतुलित नीति से उसके विरुद्ध वातावरण बनने के बजाय उसकी इज्जत और सराहना ही हुई। यहाँ तक कि मेरे अवकाश-ग्रहण के बाद 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक बननेवाले श्री रतनलाल जोशी ने भी उसे सराहा था। चुनाव के बाद एक व्यक्तिगत पत्र में उन्होंने इसके लिए मुझे बधाई दी थी।

ऊपरी हस्तक्षेप नहीं

एक बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। ऐसे लोगों की कमी नहीं रही जो 'हिन्दुस्तान' के बिड़लाजी का पत्र होने के कारण यह आक्षेप करते नहीं अघाते कि बिड़लाजी के आदेश-इशारे पर यह किया गया है या वह किया गया है। स्वामी सत्य-देव परिव्राजक यों बड़े अच्छे आदमी थे और मेरे प्रति स्नेह-भाव भी उनका था, लेकिन ऐसे कटाक्ष में वह किसी से कम नहीं थे। एक पत्र में उन्होंने कुछ इस आशय की बात लिखी थी कि मैं (यानी संपादक) तो बिड़लों का टुकड़खोर हूँ।

हिन्दी के एक प्रसिद्ध प्रचारक पत्रकार ने भी, जिनका मेरे साथ स्नेह-सम्बन्ध था और जिनके लेख आँख मीचकर हम हिन्दुस्तान में छापते थे, श्री शान्तिप्रसाद जैन के बारे में निकले एक समाचार पर कुछ इस तरह एक लेख में लिखा मानो बिड़लाजी के संकेत पर मैंने हिन्दुस्तान में उसे दिया था।

भाई जयनारायण व्यास से मेरा बड़ा स्नेह-सम्बन्ध रहा है और उनके खिलाफ लिखना तो दूर, लिखने का विचार तक मैंने कभी नहीं किया। उनके जेल में होने पर राजस्थानी कार्यकर्त्ताओं के सम्मेलन के आग्रह पर मैं पं० लादूराम जोशी के साथ स्थिति की जाँच करने जोधपुर गया था। वहाँ से आकर जो कुछ देखा सुना था वह सब मैंने देवदासजी को भी बताया। उन्होंने उसका विवरण अखबार के लिए लिख डालने को कहा। मैंने लिखा तो अपनी संयत शैली में ही और राजस्थान के सार्वजनिक जीवन से संबंधित अपने साथियों, मामाजी शंकरलालजी व शोभालालजी को भी दिखा

लिया था, फिर भी कंपोज किया मैटर देवदासजी को यह कहकर दिया था कि सार्वजनिक मामलों का मेरा बहुत अनुभव नहीं है, अतः आप अच्छी तरह देख लें कि कहीं परोक्ष रूप में भी प्रजामण्डल के आन्दोलन या जयनारायण व्यासजी पर तो इससे आँच नहीं आती है। देवदासजी को वक्त नहीं मिला या उन्हें याद नहीं रहा, इसलिए काफी समय तक वह बिना छपे पड़ा रहा। अचानक एक रविवार को जोधपुर-आन्दोलन सम्बन्धी श्रीप्रकाशजी का वक्तव्य पढ़कर उन्हें याद आयी और तब पढ़कर बिना मुझे सूचना दिये ही उस समय जो ड्यूटी पर थे उनसे कहकर उसे छपवा दिया था। इतने पर भी हीरालाल शास्त्रीजी के राजस्थान का मुख्य मंत्री बनने पर, उनके बिड़लाजी से सम्बन्ध होने से या क्यों, जयनारायणजी की यह धारणा बनी कि 'हिन्दुस्तान' उनके खिलाफ है और बिड़लाजी के आदेश या इशारे पर मैं उनका स्नेही होने पर भी उनके विरुद्ध हीरालालजी का पक्ष ले रहा हूँ।

यह स्थिति उस वक्त थी जब राजस्थान के बारे में 'हिन्दुस्तान' ने यह नीति रखी कि किसी के खिलाफ किसी का पक्ष नहीं लिया जायगा, न किसी का विरोध ही किया जायगा, क्योंकि सभी से मेरे निजी सम्बन्ध थे और सभी की सदाशयता में मेरा पूरा विश्वास था। पर मन जब शंकालु हो तो उसका कोई इलाज नहीं।

विस्तार में यह सब मैंने इसीलिए दिया है कि इस पक्ष को भी स्पष्ट करना आवश्यक है, क्योंकि बिड़लाजी छोड़ देवदासजी तक ने सीधे या इशारे से ऐसा कोई आदेश कम-से-कम मेरे सम्पादक-काल में कभी नहीं दिया। देवदासजी के तरीके का मैं ऊपर उल्लेख कर ही चुका हूँ।

जिन पारसनाथ सिंहजी ने मुझे रखा, उनके द्वारा भी ऐसा कोई आदेश मुझे कभी नहीं मिला। इसके विरुद्ध जब-जब वह दिल्ली आये और मैंने 'हिन्दुस्तान' सम्बन्धी कोई बात की तो उसके बजाय 'भारत' और 'प्रदीप' के लिए ही, जिनके उस समय वह इंचार्ज थे, मुझसे सुझाव माँगते थे। उन सम्बन्धी एक घटना का उल्लेख भी यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। उनके विचार देवदासजी से कुछ भिन्न थे, क्योंकि राष्ट्रीय या सार्वजनिक जीवन में उनका व्यापक रुख शायद ही रहा हो। एक बार उन्होंने 'हिन्दुस्तान' में निकले एक लेख को पढ़कर, जिसमें शायद मुसलमानों की राष्ट्रीयता का जोरदार प्रतिपादन था, इतिहास के उदाहरणों सहित एक लेख लिखा। उसमें उन बातों का सप्रमाण खण्डन था। उन्होंने मुझे वह लेख 'हिन्दुस्तान' में छापने को दिया, पर कहा कि आप देख लें और चाहें तो देवदासजी को भी दिखा लें। मुझे लगा कि 'हिन्दुस्तान' की रीति-नीति से वह मेल नहीं खाता, मैंने कहा कि अच्छा, देवदासजी को दिखा लूँगा। वह समझ गये कि मेरा मन नहीं है, अतः कुछ देर बाद उसे वापस ही मँगा लिया और कुछ बुरा भी नहीं माना।

जहाँ तक बिड़लाजी का सम्बन्ध है, मैं उनसे 'हिन्दुस्तान' के सम्बन्ध में मिला ही नहीं और कोई आदेश उन्होंने कभी भेजा नहीं। एक बार मण्डेलियाजी मुझसे मिलने आये थे और ग्वालियर की राजनीति तथा वहाँ के लोक नेताओं के बारे में कुछ बात की थी। मैं भी वहाँ की स्थिति तथा वहाँ के लोक नेताओं की जानकारी रखता था। मैंने भी अपनी बात कही तो वह बोले कि आप तो सब कुछ जानते ही हैं। बातचीत में मैंने यह भी कहा कि बिड़लाजी कुछ चाहते हों तो हम उससे 'न' कर ही कैसे सकते हैं? इस पर तुरत उन्होंने कहा कि नहीं, उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा; उन्होंने तो सिर्फ सब कुछ आपको बता देने भर को कहा है, यों आप तो सब जानते ही हैं।

खुद बिड़लाजी का सिर्फ एक पत्र मेरे कार्यकाल में मुझे मिला था, जिसमें एक बेडौल उर्दू शब्द के 'हिन्दुस्तान' में प्रयोग पर उन्होंने मेरा ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा था कि क्या पाठक इसे हज्म कर सकेंगे? साथ ही यह भी लिखा था कि मैं हिन्दुस्तानी का विरोधी नहीं हूँ और यह कि एक पाठक के नाते ही आपको लिख रहा हूँ। मैंने जब उसका जवाब दिया और भविष्य में भी ऐसी बातों पर ध्यान आकर्षित करने को लिखा तो उसका भी उन्होंने यही जवाब दिया कि सूझेगा तो आपको लिखूँगा, पर जो करना है वह तो आपको ही करना है।

देवदासजी के स्वर्गवास के बाद अलबत्ता उन्होंने मुझे बुलाया था और दुर्गादासजी के साथ मैं उनसे मिला था। उस वक्त भी उन्होंने जो नीति बतायी उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी जिससे मैं असहमत होता। कांग्रेस के विरोध की बात उन्होंने नहीं कही, यों रचनात्मक आलोचना 'हिन्दुस्तान' भी करता रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र का उन्होंने विरोध नहीं किया, बल्कि मिश्र अर्थ नीति का ही पक्ष लिया, जिसमें उन्होंने कहा कि निजी क्षेत्र का भी स्थान है। अन्धविश्वासों के वह पक्ष में नहीं थे, जो कि सभी समझदारों के साथ बात है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने व्यक्तिगत प्रचार के विरुद्ध मत व्यक्त किया और कहा कि मेरा खुद का प्रचार भी मुझे नहीं चाहिए।

ऐसे दृष्टिकोण से भला किसे ऐतराज हो सकता है और इससे अच्छा वातावरण और कहाँ मिल सकता है? बिड़लाजी के लिए 'त्यागभूमि' के समय से मेरे मन में आदर था, 'हिन्दुस्तान' में रहकर घटने के बजाय वह बढ़ा ही। अब जब मैं 'हिन्दुस्तान' में नहीं हूँ, तब भी उस आदर में कमी नहीं हुई और मैं मानता हूँ कि उन जैसे व्यक्ति कम ही होते हैं।

■

१६ जिम्मेदारी की परेशानियाँ

किसी भी काम के शीर्षस्थान को प्राप्त करना अपने आपमें कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। संपादक का पद इस दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है कि उसमें आन्तरिक और वाह्य दोनों जिम्मेदारियों का निर्वाह करना होता है। अतः पद से प्राप्त गौरव के वावजूद जिम्मेदारियों की परेशानी भी कम नहीं होती।

कोई भी महत्त्वपूर्ण पद दूसरों की ईर्ष्या का कारण हुए बिना नही रहता। उसे प्राप्त करने की इच्छा वह काम कर रहे सभी के लिए स्वाभाविक है। पर पद एक को ही मिल सकता है। दूसरों को भविष्य पर आशा लगाये अपनी महत्त्वाकांक्षा को अच्छी तरह काम करने पर सीमित करना पड़ता है। लेकिन कुछ ऐसे भी होते हैं जो भविष्य की प्रतीक्षा का धीरज नहीं रखना चाहते, इसलिए असंतुष्ट रहते और शीर्षस्थान पाये व्यक्ति की ग़लतियाँ ढूँढने और उसे दूसरों की नजर में गिराने में ही अपना भविष्य ढूँढ़ते हैं। कुछ इस हद तक नहीं जाते, परन्तु काम में रस नहीं लेते और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायक होते हैं जिससे काम ठीक तरह चलने में कठिनाई हो तथा शीर्षस्थानीय व्यक्ति को परेशानी हो।

मेरा ख़याल है, यह स्थिति प्रायः सभी जगह देखी जा सकती है। सुचारु कार्य-संपादन में इससे कठिनाई ही हो सकती है। पर चुग़लख़ोरी इससे भी बदतर है, जिसको यदि कहीं से बढ़ावा मिले तो कार्य और मन दोनों को ही अव्यवस्थित कर सकती है। लेकिन फूट डालकर शासन करने की नीति इसे बढ़ावा ही देती है।

'हिन्दुस्तान' के दीर्घकालीन संपादन-कार्य में मुझे इन सभी का अनुभव हुआ, जिसे अस्वाभाविक न मानते हुए भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसी स्थिति में मन स्थिर नहीं रहता और कार्य सुचारु होने में सहायता के बजाय रुकावट ही होती है।

कर्त्तव्य की उपेक्षा

'विश्वमित्र' के संचालक मूलचन्दजी अग्रवाल को लोग अलग-अलग दृष्टियों से देखते हैं। ज़्यादातर को मैंने उनका आलोचक ही पाया। मुझे उनके यहाँ काम करने का अवसर नहीं हुआ, इसलिए किसी के अनुभव को मैं चुनौती नहीं दे सकता। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि बहुत छोटी हैसियत से अकेले अपने पुरुषार्थ पर उन्होंने 'विश्वमित्र'

शुरू किया और उसे सुसमृद्ध किया। पत्र का छोटे से बड़ा कोई ऐसा काम नहीं जो उन्होंने स्वयं न किया हो। इसलिए सभी कामों का और हर काम की कार्यक्षमता का उन जैसा अनुभव अन्य किसी को शायद ही हो।

मैंने सुना था कि जब प्रेस के ऊपर ही वह रहते थे तब प्रेस चलना बन्द होने की आवाज के साथ ही वह सोते से जाग उठते थे। मुझे यह स्वयं देखने का अवसर नहीं मिला, लेकिन एक बार लाइनोटाइप के सिलसिले में कोई एक सप्ताह से ज़्यादा उनके यहाँ बालीगंज रहने का मुझे सुयोग मिला। उस समय उनके अनुभव सुनने को मिले तथा उनकी कार्य-प्रणाली भी मैंने देखी। उससे मैं प्रभावित हुए बिना न रहा, यह कहे बिना मैं नहीं रह सकता।

उनके 'सेठ' रूप के साथ उनके मानव-रूप को भी तभी मैंने देखा। 'हिन्दुस्तान' के नाते मेरे ऊपर अखबार के ऊँचे स्टैंडर्ड का भूत सवार था, जिस पर वह हँसते और अपने अनुभव सुनाते। 'विश्वमित्र' में ही वह अपना भाग्योदय देखते थे और उन्होंने अपनी पत्नी को लक्ष्य कर मुझे बताया कि कृष्णचंद्र (उनके सुपुत्र) की मा तो दीवाली पर 'विश्वमित्र' की ही पूजा करती है, जिसकी बदौलत ही हीरे और मोटरों का घर में वास हुआ तथा लक्ष्मी आयी।

उस समय उनका विचार 'विश्वमित्र' को सभी प्रमुख राजधानियों से प्रकाशित करने का था और स्टैण्डर्ड की बात पर उन्होंने अपना जो अनुभव सुनाया उस पर उनसे तो कुछ नहीं कहा, पर मन ही मन उसकी सचाई स्वीकार किये बिना न रह सका।

मूलचन्दजी ने बताया कि पत्र को और अच्छा बनाने की दृष्टि से एक बार हमने रात में एक के बजाय दो आदमी रखने शुरू किये, लेकिन होता क्या कि काम एक ही करता और दूसरा छुट्टी मनाता। यह शक इस तरह हुआ कि रात को जब-जब फ़ोन किया, एक ही आदमी मिला और दूसरे के लिए पूछने पर टट्टी या पेशाब जाने की बात कही गयी। मूलचन्दजी के पास चूँकि साधन थे, उन्होंने इस रहस्य को समझ लेना चाहा और एक रात मोटर में बैठ दफ्तर जा पहुँचे। तब भण्डाफोड़ हुए बिना न रहा और पता लग ही गया कि काम वस्तुतः एक ही करता था।

यह बात पत्रकारों के खिलाफ पड़ती थी, और स्वयं भी मालिक के बजाय श्रमजीवी पत्रकार ही होने से मैं सीधा उनका समर्थन न कर सका, पर इस स्थिति ने मुझे झकझोर दिया; क्योंकि स्वयं मुझे भी हमारे 'हिन्दुस्तान' में ऐसी स्थिति का अनुभव हो चुका था। वह इस प्रकार कि हमने भी सहकारी संपादकों की संख्या बढ़ने पर रात में पहले दो और फिर तीन व्यक्ति रखने शुरू किये थे। मेरे पास मूलचन्दजी जैसे साधन तो नहीं थे, जो मैं उनकी तरह करता; फिर भी एक दिन यह बात स्पष्ट हो ही गयी।

सत्ता-परिवर्तन के दिन की बात है, जो किसी भी समाचार पत्र के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिन था। फिर भी संविधान-सभा से लौटकर जब मैं सीधे 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के न्यूज-रूम में गया, जहाँ रात के वक्त 'हिन्दुस्तान' के आदमी भी बैठते थे, तो देखकर दंग रह गया कि रात की ड्यूटी वाले तीन व्यक्तियों में सिर्फ एक ही ड्यूटी पर था। तीन आदमी उन दिनों रात की ड्यूटी के लिए जरूरत से ज्यादा ही थे, इसलिए उनकी साप्ताहिक छुट्टी के लिए यह नियम बनाया हुआ था कि बीच के दिनों में एक-एक छुट्टी ले लिया करे। तीनों ही वरिष्ठ सहायक थे, पर यह जानकर आश्चर्य हुआ कि एक ने उस दिन छुट्टी रख ली थी और दूसरे कहने को एक छोटा-सा समाचार करके किसी अखबार के पास से संविधान-सभा चले गये थे। मेरे पास लार्ड माउण्टबेटन और राजेन्द्र बाबू के हिन्दी भाषण भी थे, उन्हें उनको दे मैं ही उनका हाथ बटाने बैठा।

अखबारी व्यक्ति के लिए यह गंभीर बात है, फिर भी मानवीय कमजोरी सभी में होने के अहसास से बात दबा लेना ही ठीक समझा। लेकिन पत्रकारिता के संस्मरण लिखते वक्त ऐसी बात दबाना ठीक नहीं लगता। जिन्होंने ऐसा किया उनके नाम तो अब भी मैं नहीं बताऊँगा, लेकिन जिन्होंने अपने साथियों की कर्त्तव्य-उपेक्षा के बावजूद काम जारी रखा उनका नाम जाहिर करना उनके प्रति मेरा कर्त्तव्य है। वह थे श्री रामसिंह, जो उस समय अपने नाम के साथ हिन्दुस्तानी लिखते थे और अब भारतीय लिखने लगे हैं। इसके साथ-साथ मैं श्री बाँकेबिहारी भटनागर की कर्त्तव्य-बुद्धि की भी सराहना किये बिना नहीं रह सकता, जो साप्ताहिक का काम करते थे, वह उस समय ड्यूटी पर नहीं थे पर घूमते-फिरते आ पहुँचे थे। उन्होंने रामसिंहजी को अकेले काम करते देखा तो उनके न कहने पर भी स्वयमेव उनकी सहायता में जुट गये थे।

किसी की भर्त्सना करने के लिए इस घटना का उल्लेख मैंने नहीं किया है, बल्कि इसके द्वारा जिम्मेदारी की परेशानियाँ स्पष्ट करना ही मेरा उद्देश्य है।

रोजमर्रा की कठिनाइयाँ

शीर्षस्थ व्यक्ति के सम्बन्ध में आम धारणा यही होती है कि वह तो सर्वसुविधा-सम्पन्न है, पर उसकी कठिनाइयों पर किसी का ध्यान नहीं जाता। ड्यूटी का वक्त है और काम पर ड्यूटीवाला व्यक्ति नहीं पहुँचा, ऐसे समय व्यवस्था करना कठिन कार्य है। रात की ड्यूटी में तो और भी मुश्किल, क्योंकि अचानक रात में जाने को कोई तैयार नहीं होता और ऐसे किसी व्यक्ति को रात में भेजा भी नहीं जा सकता जो दिन

में ड्यूटी कर चुका हो। लेकिन कोई बीमार पड़ गया, या यों ही छुट्टी मनाने की इच्छा हो आयी, तो उसका किया भी क्या जा सकता है ? मुसीबत तो उसी की है जिसको व्यवस्था करनी है।

पहले कड़ाई नहीं थी, लोगों में भाईचारा था और एक-दूसरे की कठिनाई को महसूस भी करते थे। उस वक्त रात की ड्यूटी में सामान्यतः कोई छुट्टी नहीं लेता था, न स्वीकृति की उम्मीद ही की जाती थी। पर आदमी बढ़ने, कड़ाई होने तथा कानून-कायदे बन जाने पर सबका मशीनीकरण-सा हो गया। कर्मचारियों पर मालिकों का विश्वास नहीं रहा और कर्मचारी मालिकों या उनके द्वारा इंचार्ज बनाये गये लोगों की कठिनाई की उपेक्षा करने लगे। पहले कोई बीमार हुआ तो सर्टिफिकट नहीं माँगा जाता था, फलतः शायद ही कोई झूठ बोलकर बीमारी के बहाने छुट्टी लेता था; लेकिन बीमारी के सर्टिफिकट की माँग ने झूठ को बढ़ाया और व्यवस्था करनेवाले की मुसीबत बढ़ा दी, क्योंकि दो या पाँच रुपये डॉक्टर को दे कोई कभी भी बीमार बनकर छुट्टी मनाने का हकदार हो गया। परेशानी होती है तो उसी को जिसे अचानक छुट्टी ले लेने पर काम की व्यवस्था करनी होती है।

'हिन्दुस्तान' में जब रविवार को काम शुरू हुआ, उस दिन के काम की छुट्टी काम करने वाले सहकारी संपादक को उसकी आवश्यकतानुसार दी जाती थी। इस तरह एक-एक महीने तक की, बल्कि एकाध के मामले में इससे ज़्यादा भी छुट्टी जमा हो जाती थी। इसमें उस व्यक्ति को यह सुविधा थी कि उसकी आवश्यकता पर उसे भरपूर छुट्टी मिल जाती थी। दफ्तर को भी कोई परेशानी नहीं थी। पर फिर इसमें दफ्तर को कठिनाई आने लगी, क्योंकि जरूरत के वक्त छुट्टी वाले कई हो जायँ तो काम कैसे चले ? फलतः नियम बनाये गये कि इतने दिन से ज्यादा ऐसी छुट्टियों की छुट्टी एक साथ नहीं मिलेगी, फिर यह कि इतनी से ज्यादा ऐसी छुट्टियाँ रहेंगी ही नहीं और फिर यह कि ऐसी छुट्टी उसी सप्ताह मना ली जानी चाहिए. दफ्तर न दे तभी आगे जाय और उस हालत में भी एक महीने से बाहर हर्गिज न जाय।

ऐसे नियम निश्चय ही दफ्तर की, काम की, कठिनाई के कारण ही बनाये गये।

छुट्टी के बारे में मेरी मान्यता यह रही है कि किसी पर अविश्वास न किया जाय और जब कोई छुट्टी माँगे और उसकी निकलती हो तो कुछ असुविधा उठाकर भी उसे देने की कोशिश की जाय। जब तक बिलकुल मजबूरी न हो तब तक छुट्टी से इन्कार करना ठीक नहीं, इन्कार करना ही पड़े तो सम्बद्ध व्यक्ति को विश्वास में लेने की कोशिश की जाय तथा उसे आपस में व्यवस्था करने का अवसर भी दिया जाय। दफ्तर के समय भी किसी ने कुछ देर के लिए जाने की अनुमति माँगी तो

मैंने कभी इन्कार नहीं किया, क्योंकि इन्चार्ज व्यक्ति जब बिना पूछे ही जा सकते हों तब अनुमति माँगने वाले को साधारणतः इन्कार करना मैं ठीक नहीं समझता।

छुट्टी के अलावा भी कुछ बातें नियम-कानून के शिकंजे में कसकर और ट्रेड यूनियनिज्म के कारण परेशानी पैदा करने वाली बन गयी हैं। पहले सम्पादकीय कार्य में प्रवेश करने वाले हर व्यक्ति से हर काम लिया जाता था। वे भी बिना किसी ननु-नच के, बल्कि शौक से, ऐसा करते थे। इससे उन्हें सीखने और अपने में आत्मविश्वास लाने का अवसर मिलता था। दफ्तर को भी सहूलियत रहती और व्यक्ति की क्षमता के अनुसार उसे सीखने का मौका देने के लिए तथा आवश्यकता के वक्त केवल ऐसा किया जाता। परन्तु कानूनी तौर पर पदानुसार कार्य-विभाजन हो जाने से यह आपत्ति उठने लगी है कि यह काम हमारा नहीं। कोई प्रूफ से इन्कार करता है, कोई समाचारों के अनुवाद से, कोई लिखने या साहित्यिक संस्करण का काम करने से। सम्पादक भी इसलिए हरएक से हर काम को नहीं कह सकता, क्योंकि उसके अनुसार वह व्यक्ति उस पद एवं उसके वेतन का हकदार हो जाता है। इससे काम सीमित हो गया और प्रत्येक व्यक्ति का बँधा-बँधाया योगदान रह गया। इन्चार्ज व्यक्ति के लिए यह परेशानी हो गयी कि जरूरत पड़ने पर हरएक से आवश्यकतानुसार कार्य की वह अपेक्षा नहीं कर सकता।

निरपेक्ष रहने की कठिनाई

सम्पादक से अपेक्षाएँ ऐसी की जाती हैं जिससे उसका योग्य होने के साथ-साथ निस्स्वार्थ और निरपेक्ष होना भी जरूरी है।

प्रत्येक प्रवृत्ति या आन्दोलन वाले उससे उसके पत्र में यथोचित प्रकाशन पाने की अपेक्षा करते हैं, जिसके लिए अपने-अपने ढंग से वे उसे प्रभावित करने की कोशिश भी करते हैं। इसी तरह सभी पाठक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चीजें पाने की आशा रखते हैं। अन्याय-अत्याचार के शिकार उसके द्वारा अपने कष्टों और अपनी समस्याओं का अधिकतम प्रकाशन-समर्थन पाने की अपेक्षा करते हैं। लिखने की रुचि रखने वाले अपने अधिकाधिक लेखों के प्रकाशन की आशा-चेष्टा करते हैं। मालिकों के हित और उनकी रुचि-अरुचि का भी उसे ध्यान रखना ही चाहिए।

जैसा यह कार्य है, लोग सम्पादक के आस-पास मँडराते हैं। उसकी प्रशंसा-खुशामद करते, दबाव डालते-डलवाते और प्रलोभन तक से बाज नहीं आते। सम्पादक भी आखिर मनुष्य ही होता है। उसको अपनी कमजोरियाँ, रुचि-अरुचि और एक हद तक स्वार्थवृत्ति भी उस पर हावी हो तो स्वाभाविक ही है। खुशामद, दबाव और प्रलोभन से उसका बौरा जाना और अपने कर्तव्य के बजाय उनसे प्रभावित होकर काम करने

लगना भी अस्वाभाविक नहीं। फिर जब समाज का रुझान ही भोगवाद और स्वार्थ-पूर्ति की ओर हो, तब वह भी अपनी स्थिति का लाभ उठाने को प्रवृत्त क्यों न हो? ऐसा तर्क भी सामने आता है।

इस स्थिति में बेदाग और बेबदनाम रहना हरएक के लिए सम्भव नहीं। स्वार्थ और भ्रष्टाचार का शिकार होने से बचने वाला भी अक्सर चापलूसी, दबाव और इस तरह की अन्य बातों के चक्कर में आये बिना नहीं रह पाता। खुद अपने बारे में मैं कह सकता हूँ कि कई बार ऐसे लेख मैंने छापे या छपने दिये जिनका केवल गुणात्मक दृष्टि से समर्थन नहीं किया जा सकता। सम्पादक की कुर्सी पर बैठने वाला शायद ही कोई व्यक्ति इस बात से इन्कार कर पाये कि कुछ नाम वाले व्यक्तियों के लेख तो उनके नाम के कारण ही छापने पड़ते हैं, चाहे लेख में कुछ भी न हो। इसके अलावा कुछ व्यक्ति अक्सर चक्कर लगाते और हर प्रसंग पर लेख ही प्रस्तुत नहीं करते, आग्रह एवं दीनता भी व्यक्त करते हैं। कुछ तो ऐसे भी होते हैं जो उम्र में ही बड़े नहीं होते, व्यक्तिगत रूप से आदर के पात्र भी होते हैं, उन्हें बार-बार इन्कार करना सम्भव नहीं होता। फिर कुछ नये-नये लेखक-लेखिकाएँ अपनी कृतियों के प्रकाशन के लिए आग्रह और खुशामद से लेकर सब-कुछ करने को तैयार होते हैं। उससे प्रभावित न भी हुआ जाय तो यह नहीं भूला जा सकता कि नयी प्रतिभाओं को आगे आने का मौका कैसे मिलेगा? उन्हें बिल्कुल निराश करना नयी पीढ़ी को हतोत्साह करके उभरती हुई अवस्था में ही कुचल देने का पाप मोल लेना नहीं है?

निश्चय ही इससे सचमुच हकदार के प्रति अन्याय होता है। लेकिन उदयोन्मुख पीढ़ी के प्रकाशन की आवश्यकता के अलावा पेशेवर लेखकों की उपेक्षा भी कैसे की जाय, जिनकी कमाई ही लिखने और प्रकाशन पर निर्भर है? पहले जब लेखों पर पैसा प्रायः नहीं मिलता था, शौक या लिखने की धुन ही लिखने को प्रवृत्त करती थी, तब पत्र-पत्रिका कम होते हुए भी लेखों का अभाव रहता था। अब लेखन व्यवसाय और कमाई का जरिया बन जाने से लेखों का बाहुल्य ही नहीं हुआ, उन्हें छपाने के व्यावसायिक तरीके भी चल पड़े हैं। ऐसी हालत में गुणात्मक निर्णय का दावा कोई कितना ही करे, उपर्युक्त मर्यादाएँ रहती ही हैं। फिर आजकल तो एक गर्हित बात भी सामने आने लगी है। वह यह कि गुटबन्दी प्रायः पत्रों में सामने आने लगी है और अपने गुट विशेष के लेखकों को विशेष स्थान ही नहीं मिलता, येनकेन-प्रकारेण उनके प्रचार-प्रसिद्धि का सिलसिला भी चल पड़ा है।

प्रभाव और प्रलोभन

पत्र-संचालकों पर सामान्यतः यह आरोप लगाया जाता है कि विज्ञापन के रूप में

विज्ञापनदाताओं से वे प्रभावित होते हैं, परन्तु सम्पादक तथा अन्य पत्रकारों के प्रभाव में आने की गुंजाइश भी कम नहीं है।

विदेशों के दूतावास हमारे यहाँ पत्रकारों को भ्रष्ट करने में कम योगदान नहीं करते। पार्टियों, अपने देश की पत्र-पुस्तकों तथा अन्य उपहारों से ही वे पत्रकारों को अपने प्रभाव में करने की कोशिश नही करते; उन्हें अपने देश की यात्राएँ कराकर तथा शराब आदि की सुविधाओं से भी वे उन्हें उपकृत रखकर अपने अनुकूल प्रचार के लिए प्रेरित करते हैं।

इसी तरह केन्द्र और राज्य की सरकारें भी अपने तथा मन्त्री विशेष के प्रचार के अपने सूचना विभागों द्वारा पत्रकारों को अनुकूल रखने का प्रयत्न करती हैं।

इन स्थितियों में कितने पत्रकार वस्तुतः स्वतंत्र रहते हैं, यह कहना कठिन है। पत्रकारिता जब मिशन के बजाय व्यवसाय बन गयी है तब पत्रकारों का दृष्टिकोण भी व्यावसायिक बन जाय तो वह स्वाभाविक ही है।

प्रचार ने जब कला का रूप ले लिया है तो तटस्थ एवं स्वतंत्र दृष्टि के बजाय उसे कमाई का साधन ही क्यों न बनाया जाय? कुछ ऐसा दृष्टिकोण बनता जा रहा है। इसीलिए हम देखते हैं कि वही व्यक्ति जो किसी समय राष्ट्रीय पत्र का सम्पादक होता है, दूसरे वक्त उससे विपरीत विचारधारा वाले पत्र में भी काम कर लेता है। बहुत प्रसिद्ध कई पत्रकारों के बारे में मुझे पता है कि देशी-विदेशी कई पत्रों के संवाददाता होते हुए वे उस-उस पत्र की नीति के अनुसार परस्पर विरोधी दृष्टिकोण से अपने समाचार भेजने में कोई बुराई नहीं समझते।

मेरे लिए ऐसा करना संभव नहीं हुआ, इसलिए मैं दुनिया की बहुत-सी सुविधाओं से वंचित रहा तो आश्चर्य ही क्या?

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का सम्पादन १७

दैनिक 'हिन्दुस्तान तो क्रमशः उन्नति कर ही रहा था, जब वह जम गया तो 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की कल्पना को मूर्त्त रूप देने का समय भी आया।

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के प्रथमांक में यह ठीक ही कहा गया था : "'हिन्दुस्तान' को साप्ताहिक रूप में निकालने का विचार पुराना है, किन्तु परिस्थिति वश वह अमूर्त्त रहा।" और " 'हिन्दुस्तान' प्रारम्भ होने के पन्द्रहवें वर्ष में आज वह कल्पना मूर्त्त रूप ले रही है।" यह बताते हुए 'शुभारम्भ' शीर्षक से संपादकीय में व्यक्त किया गया था : "यह हमारे लिए तो आनन्द की बात है ही, 'हिन्दुस्तान' परिवार के उन अनेक के लिए भी यह कम प्रसन्नता की बात नहीं है जो साप्ताहिक रूप में 'हिन्दुस्तान' निकालने के लिए सुझाव एवं प्रेरणा देते रहे हैं। × × × सबकी कामना और सद्भावना के साथ जब इसका आरम्भ हो रहा है तो प्रसन्नता के साथ ही सबका यह कर्त्तव्य भी है कि इसे अच्छा बनाने के लिए सब प्रकार से अपना योग प्रदान करें।"

यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि हिन्दुस्तान टाइम्स संस्थान के मैनेजिंग डाइरेक्टर पारसनाथ सिंहजी ने जब (१९३६ में) मुझे 'हिन्दुस्तान' में आने का निमन्त्रण दिया था तभी उनके मन में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' निकालने की कल्पना थी। जैसा मैंने अपने 'हिन्दुस्तान' में आने के वर्णन में बताया भी है, शुरू में मैंने साप्ताहिक को जमाने का ही कार्य किया भी था। पता नहीं क्यों तब वह नहीं निकल पाया था और पन्द्रह वर्ष बाद, १९५० ई० में, वह निकला। श्री देवदास गांधी इस समय हिन्दुस्तान टाइम्स संस्थान के मैनेजिंग डाइरेक्टर थे और बहुत कुछ उन्हीं के निश्चय एवं आयोजन के साथ वह निकला।

बीच-बीच में अपने इस या उस साथी के नाम मैं जरूर सुनता रहता था कि वह साप्ताहिक निकालने की प्रेरणा दे रहे तथा योजनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, पर निश्चित रूप से मुझे कोई जानकारी नहीं थी। बिना कहे टाँग अड़ाने की मेरी आदत नहीं और मुझसे देवदासजी ने इस सम्बन्ध में कुछ पूछा-कहा नहीं इसलिए मैं इस सम्बन्ध में प्रायः अनजान और निरपेक्ष ही था। लेकिन जब साप्ताहिक निकालने का निर्णय ले लिया गया, तो देवदासजी ने मुझे बुलाकर उसके बारे में बातचीत की। साथ ही उसके सम्पादन

का दायित्व मुझे ही सँभालने को कहा। फलतः उसकी रीति-नीति और उसके स्टाफ़ की भी बात हुई।

शुरू-शुरू में संपादकीय विभाग बहुत बड़ा नहीं था। मेरे सुझाव पर श्री बाँके बिहारी भटनागर और डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास को मुख्य रूप से उसमें मेरी सहायता के लिए चुना गया, जो दोनों ही दैनिक में मेरे सहायक थे। कुछ समय बाद बाहर के व्यक्ति नैथाणीजी भी रखे गये और दैनिक के शरदेन्दुजी को भी उसमें लगाया गया। शरदेन्दुजी की जगह बाद में श्री रामानन्द दोषी दैनिक से साप्ताहिक में आ गये और शरदेन्दुजी वापस दैनिक में चले गये थे।

शान्तिकुमारजी के साप्ताहिक का काम करने की बात तो देवदासजी ने तुरन्त स्वीकार कर ली थी, लेकिन भटनागरजी के लिए मेरे काफ़ी आग्रह पर वह रज़ामन्द हुए। उनका सुझाव हमारे एक अन्य साथी श्री सीताचरण दीक्षित के लिए था, जो सम्पादन-कार्य में मँजे हुए तथा गांधीवादी विचारों के थे। मुझे उन पर कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन दैनिक की दृष्टि से वह ज़्यादा उपयोगी थे और भटनागरजी की रुचि साहित्यिक एवं सजावट की होने से मेरे विचार में वह दैनिक से साप्ताहिक के लिए अधिक उपयुक्त थे। मेरी इन्हीं दलीलों पर देवदासजी ने आखिर भटनागरजी को ही रखना मान लिया।

यह सब इसलिए लिख रहा हूँ कि बाद में मुझे मालूम हुआ कि साप्ताहिक के लिए दीक्षितजी का ही सुझाव एवं आग्रह रहा था और उन्हें उसका कार्य नहीं सौंपा गया इससे उन्हें अच्छा भी नहीं लगा था। काफ़ी समय बाद जब इस बात को लेकर देवदासजी के प्रति उन्होंने कुछ असन्तोष व्यक्त किया तभी मुझे यह बात मालूम हुई और मैंने उन्हें बता भी दिया था कि ऐसा देवदासजी के कारण नहीं बल्कि मेरे कारण हुआ। मैंने उन्हें यह भी बताया कि मुझे यह पता नहीं था कि आपके सुझाव और आग्रह पर ही साप्ताहिक निकालने का निर्णय किया गया था। साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि साप्ताहिक के लिए भटनागरजी का सुझाव मैंने इसीलिए दिया था कि दैनिक से आप जैसे सधे व्यक्ति को मैं खोना नहीं चाहता था।

मुझे अपने निर्णय पर अफ़सोस अब भी नहीं है। मेरा चुनाव ग़लत नहीं था, यह इसी से स्पष्ट है कि कोई तीन साल बाद साप्ताहिक के जम जाने पर मुझे उसके दायित्व से मुक्ति मिल गयी और भटनागरजी ही स्वतन्त्र रूप से उसके सम्पादक बना दिये गये।

जन्म और उद्देश्य

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ने १९५० की गांधी-जयन्ती (२ अक्टूबर) से जन्म लिया और जैसे दैनिक का आरम्भ कांग्रेस अंक से हुआ था उसी तरह 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का आरम्भ बापू अंक से हुआ।

देवदासजी के सुझाव पर "सिद्धिः साध्ये सतामस्तु" उसका आदर्श-वाक्य रखा गया था और 'शुभारम्भ' शीर्षक संपादकीय में मैंने लिखा था : "राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अधिवेशन के साथ, सन् १९३६ में, 'हिन्दुस्तान' (दैनिक) का प्रादुर्भाव हुआ था और पृथक् रूप से 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ऐसे समय आरम्भ हो रहा है जब कांग्रेस का अधिवेशन हुआ ही है तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की जयन्ती मनायी जा रही है। × × × कांग्रेस और गांधी-जयन्ती का यह शुभ संयोग 'हिन्दुस्तान' की दिशा का सूचक भी बन गया है तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए।"

साप्ताहिक की रीति-नीति के बारे में कहा था :

"'हिन्दुस्तान' ने इस बात का प्रयत्न किया है और अपने साप्ताहिक रूप में भी वह इस बात का आकांक्षी होना चाहता है कि जो कुछ उसमें निकले वह राष्ट्रीयता का पोषक हो और सर्वोदय की भावना से परिपूर्ण रहे।"

"संतुलन का वह कायल है तथा अपने पाठकों को ज्ञान-प्रदान एवं मार्ग-दर्शन का आकांक्षी।"

"दैनिक में जहाँ राजनीति और रोज़मर्रा की बातों का प्राधान्य स्वाभाविक है, साप्ताहिक में मानव से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों को स्थान मिलना चाहिए और साहित्य, कला आदि, जिनको जीवन-संघर्ष के बीच रोटी के बाद स्थान दिया जाता है उनका भी समावेश होना ही चाहिए।"

"साप्ताहिक हिन्दुस्तान' यह सब करेगा, इसमें संशय नहीं होना चाहिए।"

यह स्पष्ट कहा गया था कि "उसके (साप्ताहिक के) सम्पूर्ण रूप की झाँकी आज नहीं करायी जा सकती, क्योंकि वह विकासोन्मुख होना चाहता है।" पर आश्वासन दिया था कि "पीछे हटने के बजाय आगे बढ़ना ही हमें इष्ट है।"

तत्कालीन समस्याओं का उल्लेख कर कहा था : "यह स्थिति विवेक और आत्म-निरीक्षण की माँग करती है।" और "गांधी-जयन्ती के वातावरण में हमें दूसरों को ही दोष देने के बजाय सोचना चाहिए कि हममें से हर एक का भी इसमें कोई योग है या नहीं", और—"दूसरे चाहे जो करें, क्या हम खुद बुराइयों से अलग होकर स्थिति सुधार-

ने में योग नहीं दे सकते ?" और "जिनको हम राष्ट्रपिता मानते हैं और जिनके प्रति श्रद्धांजलि रूप ही 'बापू-अंक' से 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का हम आरम्भ कर रहे हैं उनकी सच्ची भावना को लें तो दूसरों से चाहने के बजाय अपने करने का उदाहरण ही हमें प्रस्तुत करना चाहिए।"

इस रीति-नोति तथा ऐसे विश्वास के साथ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ने जन्म लिया था : "हमारा सोचा हुआ कार्य सत्कार्य और सज्जनोचित है तो उसमें सफलता मिलनी ही चाहिए—**सिद्धिः साध्ये सतामस्तु।**"

साप्ताहिक की उपलब्धियाँ

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जब निकला तब निःसन्देह अपने ढंग का वह एक ही पत्र था। पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे के सम्पादन में कलकत्ता से इस शती के तीसरे दशक में निकले 'श्रीकृष्ण-सन्देश' के बाद रचनात्मक एवं सन्तुलित दृष्टि से निकला सम्भवतः वही सर्व-प्रमुख साप्ताहिक पत्र था। अन्तर यह था कि 'श्रीकृष्ण-सन्देश' में जहाँ धर्म और अध्यात्म का पुट था वहाँ यह शुद्ध राष्ट्रीय और लोक व्यवहार का पत्र था।

'श्रीकृष्ण-सन्देश' का अचानक लोप जहाँ उसकी सुखद स्मृति मात्र छोड़ गया, यह हर्ष की बात है कि 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' सुसंगठित संस्थान से सुव्यवस्था एवं साधन-सम्पन्नता से निकलने के कारण जमकर क्रमोन्नति कर रहा है।

साप्ताहिक का सम्पादन ऊपर बतायी रीति-नीति से मेरे संयोजन और देवदासजी की सुदक्ष देख-रेख में हुआ, जिससे सुरुचि और शिष्टता से स्खलन की गुंजाइश नहीं थी। सत्साहित्य द्वारा ज्ञान-प्रसार पर जोर दिया गया और सम्भवतः हिन्दी में सर्वप्रथम उसी ने 'शोलेमलै की राजकुमारी' शीर्षक तमिल उपन्यास को धारावाही रूप में प्रकाशित कर दक्षिण से उत्तर का संगम कराने का प्रयास किया था। उपन्यास था भी देशभक्तिपूर्ण और रोचक। एडवर्ड-सिंपसन प्रेमकथा भी साप्ताहिक में ही धारावाही रूप में निकली थी। इसी तरह तिब्बत, उड़नतश्तरियों आदि के सम्बन्ध में भी कुछ रोचक लेखमालाएँ निकलीं और रेबेका उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर भी।

सामयिक लेखों और इन सबने तो साप्ताहिक को रोचक बनाया ही, देवदासजी की सूझ-बूझ से अन्तर्राष्ट्रीय कहानी प्रतियोगिता में 'हिन्दुस्तान' के योगदान ने दैनिक के साथ-साथ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' को भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता की श्रेष्ठ कहानियों का रसास्वादन कराया। ऑफ़सेट मशीन जब आ गयी तो छपाई तथा उससे छपे चित्रों ने उसे आकर्षक बनाकर और लोकप्रिय किया। सिनेमा चित्रों को, सिनेमा के नायक-

नायिकाओं को भी जब उसमें स्थान मिलने लगा तो उससे भी प्रचार में निःसन्देह बढ़ोत्तरी हुई। अक्सर देखा गया कि युवक-युवतियाँ उनमें बड़ी दिलचस्पी रखते थे और कहानियाँ पढ़ने के अलावा उन्हें काट-काट कर रखने में ही शायद उन्हें सबसे ज़्यादा दिलचस्पी थी।

टाइम्स ऑफ इण्डिया संस्थान से 'धर्मयुग' निकलने के बाद मानना चाहिए कि 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के लिए प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति पैदा हो गयी थी। टाइम्स ऑफ इण्डिया का प्रेस बहुत साधन-सम्पन्न था, यों भी उसके साधन बहुत थे और उनके उपयोग में कंजूसी कम थी। फलतः 'धर्मयुग' कहीं ज़्यादा सजधज से निकला। फिर उसको गांधीवादी विचारों एवं मर्यादा की बंदिश भी नहीं थी। सम्भवतः अधिकाधिक लोकाकर्षण और प्रसार ही उसके लिए सर्वोपरि था। उसके बाद ही 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ने भी सिनेमा नायक-नायिकाओं के चित्र प्रकाशित करने शुरू किये थे।

लोकाकर्षण का यह तरीक़ा श्रेयस्कर तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जब वातावरण ही बदल गया है और नग्नता एवं नारी सौंदर्य के व्यापार द्वारा ग्राहक बटोरने का धन्धा बढ़ रहा है तब अस्तित्व-रक्षा के लिए कुछ न कुछ किये बिना चारा भी नहीं। समय के साथ-साथ पत्रों में व्यावसायिकता भी आ रही है, पत्रकार भी अधिकाधिक वेतन और सुख-सुविधाओं के आकांक्षी हैं, तब पत्रों का मिशनरी के बजाय व्यावसायिक रूप ग्रहण करते जाना स्वाभाविक ही है। मेरे जैसा कोई चाहे तो भी काल प्रवाह को नहीं रोक सकता।

वैसे मैं कोई तीन साल तक ही साप्ताहिक का सम्पादक रहा और तब तक निश्चय ही 'शुभारम्भ' में घोषित रीति-नीति का परिपालन हुआ। इसके बाद जब पत्र जम गया और रीति-नीति स्थिर-सी हो गयी तब भटनागरजी को ही सम्पादन का भार सौंप दिया गया। २ अक्तूबर १९५० को 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' निकलना शुरू हुआ था, १९५३ की २३ अगस्त से (वर्ष ४, अंक ३४) मैं उसके दायित्व से मुक्त हुआ और भटनागरजी का नाम सम्पादक की जगह जाने लगा।

अब तो भटनागरजी भी सम्पादक नहीं रहे, कुछ समय श्री गोविन्द प्रसाद केजरीवाल कार्यकारी या स्थानापन्न सम्पादक रहे, फिर श्री रामानन्द दोषी सम्पादक हुए और अब श्री मनोहर श्याम जोशी सम्पादक हैं। लेकिन सम्पादक कोई रहे, एक बार चल निकले और सुव्यवस्थित पत्र में उससे कोई खास अन्तर नहीं पड़ता। पुराने अनुभव और नये उत्साह से वह तो आगे से आगे बढ़ता ही जायगा। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' भी इसी क्रमानुसार संख्या-वृद्धि करता हुआ नित्य प्रति उन्नति कर रहा है।

संपादन के अनुभव

साप्ताहिक का मेरे लिए नया अनुभव नहीं था, फिर भी यह मानना होगा कि अब तक जिन साप्ताहिक पत्रों में काम किया था वे जहाँ समाचार-प्रधान थे वहाँ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' लेख-प्रधान था। पूर्व पत्रों की स्थिति से भिन्न यहाँ लेखों के लिए पारिश्रमिक की भी व्यवस्था थी तथा स्टाफ़ भी ज्यादा था, इसलिए लेखों की कमी के बजाय उनके चयन और सम्पादन का ही मुख्य काम था। समयानुसार विशेष अवसरों तथा विषयों पर हम उपयुक्त व्यक्तियों से स्वयं भी लेख आमन्त्रित करते। हिन्दी में नवोदित व्यंग्यचित्रों, कलाकृतियों और फोटो-चित्रों को भी प्रोत्साहन दिया गया। मशहूर और सम्मान्य व्यक्तियों की कृतियों को तो आमन्त्रित कर प्रकाशित किया ही गया, अपने आप आने वाली कृतियों की भी उपेक्षा नहीं की गयी। उनमें से छाँट-छाँट कर सम्पादन करके देने और उदीयमान को प्रोत्साहित करने का पूरा ध्यान रखा गया।

अपने आप आने वाली कृतियों की उपेक्षा न करने और पारिश्रमिक के पत्र-पुष्प सभी प्रकाशित रचनाओं पर सन्तुलित रूप से प्रदान करने के कारण ऐसी रचनाओं की नित्यप्रति वृद्धि होने लगी। दिल्ली चूँकि स्वयं ही व्यापक क्षेत्र है, स्थानीय व्यक्ति रचनाओं के साथ चक्कर भी लगाने लगे। कुछ तो व्यावसायिक दृष्टि से, क्योंकि छपने पर द्रव्य-प्राप्ति होती थी; कुछ छापे में नाम के साथ अपनी प्राथमिक रचनाओं के प्रकाशन से आत्मतृप्ति पाने के लिए। इन्कार द्वारा निराश करना जहाँ ठीक नहीं था वहाँ सभी को समाना भी असम्भव था।

कुछ लोग, मुझे याद है, हर प्रसंग पर लेख ही प्रस्तुत नहीं करते, चापलूसी और दीनता द्वारा सहानुभूति पैदा कर प्रकाशन पाने को प्रभावित करने का पूरा प्रयत्न करते। कई उनमें सम्माननीय और बुजुर्ग तक होते, जब कि आधुनिक किसी बहाने चाय-पान का निमन्त्रण प्रस्तुत करने को तैयार रहते। सर्वथा गुणात्मक रूप में लेखों का चयन करना ऐसी हालत में कठिन ही होता है, फिर चयन करने वाले के अपने भी दृष्टिकोण एवं मित्र-मंडल होते हैं और मानवीय कमजोरियों से भी कोई बिल्कुल अछूता नहीं है।

अपने समय के एक-दो अनुभव ही नमूने के तौर पर यहाँ बताऊँगा। एक सिंधी महिला के नाम से कुछ लेख निकले। कला से विज्ञान तक विभिन्न विषयों पर जब वे आने लगे तो मुझे शक हुआ और उन पर मैंने रोक लगायी। फलतः एक सज्जन मिलने आये और फिर एक लड़की को साथ लेकर भी दफ़्तर आये। मैंने उनसे यही कहा था कि सभी विषयों पर कोई एक व्यक्ति लिखे, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। लड़की

एम० ए० जरूर होगी, पर बहुत शांत और दबी हुई-सी थी। उसके बजाय साथ वाले सज्जन ही बोलते रहे और मुझे घर चलने या उस लड़की को मेरे घर लाने का प्रस्ताव रखने में भी नहीं चूके। मैंने फिर वही बात दोहरायी तो उन सज्जन को कहना पड़ा, लिखते हम कई लोग हैं और भेजते इस एक ही नाम से हैं।

एक तरुणी को मैंने शायद सलाह दी थी कि लेखों को छपाने के चक्कर में न पड़ें, यही ठीक होगा। मुझे यह याद भी नहीं रहा था, क्योंकि यह तो रोज़ की ही बात थी। शायद वही काफ़ी अर्से के बाद फिर आयी और शायद वैसे ही कुछ बात मैंने कही। इस पर उसने कहा : आपने पहले भी ऐसा ही कहा था, पर अब तो मैं अमुक माण्टसेरी स्कूल में टीचर भी हूँ। उसके आग्रह पर मैंने उसे कुछ साहित्यिकों तथा साहित्यिक संस्थाओं से सूचित तो कर दिया, पर सलाह यह दी कि उनके चक्कर में वह न पड़े यही ठीक होगा।

लेखकों में नयों से ज़्यादा परेशानी पेशेवरों से ही होती है, जो इस-उसकी चोरी कर हर विषय पर हर मौक़े लेख तैयार रखते हैं। स्वभावतः इसमें वस्तुतः अच्छी रचनाएँ कई बार रह जाती हैं और घिसी-पिटी चीजें ही सामने आती रहती हैं। पर कितना ही सावधान रहने पर भी कोई सम्पादक ऐसी बातों से बच नहीं सकता।

साप्ताहिक के साथी

अन्त में कुछ शब्द साप्ताहिक के अपने साथियों के सम्बन्ध में भी।

भटनागरजी 'इम्प्रेशन' डालने वाले व्यक्ति हैं। एक समय सरकारी दफ्तर में काम कर चुके हैं, इसलिए सीनियर-जूनियर की भावना और दफ्तरी 'नोट' के शिकार हैं। वैसे शालीन पर कुछ 'पेट्रोनाइजिंग' ढंग के। भाषा उनकी अच्छी है और काम सलीके में करने के इच्छुक, साहित्यिक और कला रुचि वाले। सार्वजनिक अभिलाषा ने उन्हें हिन्दी भवन के तथा ऐसे ही कामों में व्यस्त किया। संपर्क बनाने में कुशल और किसी भी काम से पीछे न हटने वाले। इसीलिए साप्ताहिक से अवकाश ग्रहण के बाद पत्रकारिता-विद्यापीठ का संचालन कर रहे हैं।

डॉ० शान्ति कुमार व्यास निश्चय ही स्कॉलर टाइप के व्यक्ति थे, हिन्दी और अंग्रेजी दोनों पर ही उनका अधिकार था, परन्तु ज़ाहिरा महत्त्वाकांक्षा से हीन और चुपचाप काम करने वाले। दुर्भाग्यवश अल्पायु में ही लकवे के शिकार हो गये, जिससे साप्ताहिक छोड़ना पड़ा और अब पता नहीं कैसे जीवन यापन कर रहे हैं।

अन्यों में श्री रामानन्द दोषी प्रतिभा के धनी हैं। गद्य-पद्य, लेख, कहानी सभी में उनकी गति है और अच्छा लिखते हैं। दैनिक में सिनेमा-स्तंभ शुरू करने पर सर्वप्रथम उन्हीं के सुपुर्द किया गया था। साप्ताहिक उनके अनुरूप ही था, पर 'कादम्बिनी' निकलने पर वह ज्यादा चमके और आजकल उसके।

इन साथियों के साथ साप्ताहिक का मेरा जीवन अच्छा ही बीता और जब मैं विधिवत् उसका सम्पादक नहीं रहा तब इनके स्नेहवश उसे अपना ही समझता रहा तथा जब जिस सेवा की इन्होंने माँग की उसे करने में संकोच नहीं किया।

■

कसौटी के अवसर

१८

लेखकों की जो समस्या साप्ताहिक में थी, दैनिक में भी उसका होना अवश्यम्भावी था। बल्कि उसमें वह ज्यादा ही थी, क्योंकि रविवासरीय संस्करण के अलावा सामयिक सामग्री की दैनिक में रोज ही आवश्यकता और गुंजाइश रहती है। कोई दिन ऐसा नहीं जब किसी की जयन्ती, पुण्यतिथि अथवा किसी घटना का स्मरण-दिवस न हो। साथ ही सामयिक घटनाओं को समझाने के लिए उन सम्बन्धी ज्ञातव्य लेख भी दैनिक में अवसर चाहिए।

दैनिक की कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं। प्रचार का वह माध्यम है, इसलिए प्रचारेच्छुक राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक सभी तरह के लोगों को अपने या अपने काम के प्रचार के लिए उससे काम पड़ता है। फलतः संपादक-मंडल, खास कर संपादक और संवाददाताओं से ऐसे लोग संपर्क रखते हैं। उनकी चापलूसी और खातिर तवाजो करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता, चाहे पीठ पीछे उनका रुख इससे बिल्कुल भिन्न ही क्यों न होता हो।

यह स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही समझनी चाहिए जैसी कि सरकारी आदमियों के साथ बरती जाती है। यानी एक ओर उनसे काम कराने को खुशामद और रिश्वत का प्रयोग होता है, तो दूसरी ओर सरकारी अमले के भ्रष्टाचार और बढ़ती हुई रिश्वतखोरी की शिकायत की जाती है।

संपादक या पत्रकार भी आखिर मनुष्य ही होता है। मानसिक कमजोरियाँ, इसलिए, उसमें भी होना अस्वाभाविक नहीं। फिर पत्रकार का काम ऐसा है कि जनता के ही नहीं, सरकार के बड़े-से-बड़े लोगों का सम्पर्क भी उससे रहता है। प्रचार-विभाग आज जब सरकार का आवश्यक अंग हो गया है, तो प्रचार के माध्यम जिनके हाथ में हों उन्हें अनुकूल रखने के लिए सरकारी लोगों का भी उन्हें आदर-सुविधाएँ देना स्वाभाविक ही है।

पत्रकार का अहं ऐसी हालत में जागृत हो तो आश्चर्य नहीं। अपने महत्त्व को वह ज्यादा न भी आँके, अपनी अनुकूल परिस्थितियों के कारण सौदेबाजी और स्वार्थ-साधन का व्यापक क्षेत्र उसके आगे खुल जाता है।

सभी गर्जमन्द उसको आमन्त्रित करते हैं और उसे सम्मान-सुविधाएँ देने के लिए तैयार रहते हैं। विविध आयोजनों के आयोजक अपने प्रचार के लिए उसे आमन्त्रित

ही नहीं करते, उसके लिए विशेष व्यवस्था भी करते हैं। सरकारी सुविधाओं और आतिथ्य में उसे सरकारी उपलब्धियों के प्रचार के लिए आमन्त्रित किया जाता और व्यापक भ्रमण कराया जाता है। यही नहीं, विदेशी मिशन और सरकारें भी अपने समारोहों में तथा विदेश-यात्राओं के लिए आमन्त्रित करती हैं।

छोटे-बड़े सभी तरह के पत्रों में काम करने के कारण, साथ ही 'हिन्दुस्तान' में अंग्रेजी 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का भी सान्निध्य होने से, सभी स्थितियों से मुझे गुजरना पड़ा है।

वह जमाना भी मैंने देखा जब सरकारी अन्याय-अत्याचार को उजागर करने की चिन्ता मात्र रहती थी, सरकारी लोगों के संपर्क से बिल्कुल बचा जाता था। फलतः पत्रकारिता दूसरों के कष्ट-निवारण के लिए स्वयं कष्टों को आमन्त्रित करने की कँटीली राह थी। संवाददाता सरकारी रियायतें पाने के बजाय गुमनाम रहते और पत्र पर संपादक की जगह नामजद होने वाले व्यक्ति बराबर सरकारी कोप के शिकार रहते।

फिर मेरे सामने ही वह जमाना भी आया कि संवाददाता सरकारी तौर पर मान्यता और सुविधाएँ पाने लगे, जिससे खुले आम उनका सरकारी लोगों से मिलना-जुलना हुआ और अफसरों से लेकर मिनिस्टरों तक से उनकी राह-रस्म हुई।

विशिष्टता ऐसी हालत में अपने-आप उन्हें प्राप्त हो गयी। यही नहीं, अखबारी काम के साथ-साथ अपने सम्पर्क से लोगों के तथा अपने काम कराने की सुविधा भी उन्हें मिल गयी। फलतः पत्रकार की श्रेष्ठता की कसौटी उसके द्वारा उठाये गये कष्टों और सार्वजनिक कार्यों के बजाय उसके सम्पर्कों तथा सम्पर्क के साधन सुविधापूर्ण रहन-सहन से हो गयी। ऊँचा रहन-सहन, बड़े लोगों से मिलना-जुलना, मिनिस्टरों और विदेशी दूतावासों से सम्पर्क रखना ही आज के पत्रकारों की निशानी है।

पत्रकारिता अब सेवा-कार्य (मिशन) नहीं रहा, कला हो गयी है। पत्रकार के लिए सार्वजनिक भावना के बजाय लेखन-कौशल और सम्पर्क-संवर्धन का महत्त्व हो गया है।

अंग्रेजी के एक मशहूर पत्रकार के लिए कहा जाता है कि खुद शराब पीने पर भी जब अपने पत्र में शराबबन्दी का उन्होंने प्रतिपादन किया तो कारण यह बताया कि यह तो पैसा लिखाता है। एक मशहूर पत्रकार से उद्योगपतियों के पत्र में उनके हित-प्रतिपादन सम्बन्धी बात हुई तो उन्होंने कहा : व्यापार-पृष्ठ या अन्य स्तम्भों में मालिकों के हित प्रतिपादित होते रहें, हम उसके झमेले में क्यों पड़ें, सम्पादकीय में तो हम आम हित की ही बात करते हैं। मतलब कि जो ऊपरी आवरण सेवा का या सार्वजनिक

रखते हैं वे भी अपना बचाव भर करते हैं, प्रवाह के प्रतिरोध की न किसी में सामर्थ्य है न सच्ची इच्छा।

कलम और सम्पर्क के चमत्कार द्वारा अधिकाधिक पैसे और सुविधाओं की माँग ही आज की स्थिति है।

'हिन्दुस्तान' में रहते हुए मुझे भी लाभ उठाने के अवसर न आये हों, यह कैसे हो सकता है ?

लोकसेवकों, मिनिस्टरों और अन्य का सम्पर्क मुझसे भी रहा। सरकारी निमंत्रणों और यात्रा के अवसर भी मुझे मिले। वाइसराय से लेकर महारानी एलिजाबेथ और कई राष्ट्राध्यक्षों से हाथ मिलाने का सुयोग हुआ। बीकानेर में उत्तरदायी शासन की घोषणा के वक्त निमंत्रित होकर गया तो तत्कालीन महाराज ने मिलने के लिए विशेष रूप से आमंत्रित किया। जब मैं वापसी के लिए सीट रिजर्व करा चुका था उसके बाद ही संयोगवश ऐसा हुआ, इसलिए उनसे मुलाकात के कारण वहाँ से निपटने तक रेलगाड़ी मेरे लिए रुकी रही थी।

उस जमाने में राजा-महाराज आम लोगों से बिल्कुल भिन्न, 'मालिक' और 'प्रभु' माने जाते थे; उनसे मिलने के लिए भी भेंट देनी पड़ती थी। दरबार में बड़े-बड़े जागीरदारों सहित दीवान सरदार पणिक्कर तक सभी उच्चाधिकारियों को 'घणी खम्मा अन्नदाता' कह-कहकर जमीन छूते हुए जाकर नजर भेंट करते हुए मैं देख चुका था। ऐसी हालत में महाराज का मुझसे हाथ मिलाकर मिलना और बिल्कुल आपसी रूप में बातचीत करना अपने आप में बहुत बड़ी बात थी। फिर उस मुलाकात की खातिर मेरे लिए रेलगाड़ी का रुके रहना भी मेरे अहं को बढ़ा ही सकता था। लेकिन पत्रकारिता के जीवन में यह तो रोजमर्रा की ही बात है।

निमंत्रित होकर इंग्लैण्ड गया तो वहाँ भी ब्रिटेन के औद्योगिक और सांस्कृतिक केन्द्रों की खूब सैर ही नहीं करायी गयी, बड़े-से-बड़े व्यापारियों, किसानों, राजनीतिज्ञों और राजमंत्री लार्ड ह्यूम से भेंट का कार्यक्रम भी रहा। फ्रैंकफर्ट के अल्पकालिक मुकाम में भी जर्मन अधिकारियों ने जर्मनी के जन-जीवन की झाँकी उत्साहपूर्वक दिखायी।

मेरी कसौटी और मर्यादाएँ

ऐसे अवसर 'हिन्दुस्तान' में रहते हुए और भी मिल सकते थे, लेकिन मेरी कुछ मर्यादाएँ थीं और नये प्रवाह के बीच भी मैं पुरानी लीक को बिल्कुल छोड़ नहीं पाया था। संपर्क बनाने में कच्चा, स्वार्थ साधन में अपटु, प्रशंसा और प्रचार में संतुलित, खुशामद और चापलूसी से दूर, नये प्रवाह से लाभ उठाने के निश्चय ही मैं काबिल नहीं था।

विदेशी मिशनों या एजेंसियों से मैंने कोई निजी सम्बन्ध नहीं रखा। यहाँ तक कि जिसके निमन्त्रण पर मैं ब्रिटेन गया था, उस ब्रिटिश इन्फार्मेशन सर्विस के दफ्तर भी कभी हाजिरी नहीं दी। ब्रिटिश यात्रा के जो संस्मरण मैंने लिखे, जो बाद में 'आज का इंगलिस्तान' नाम से पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुए, उनमें भी वहाँ प्राप्त सामग्री का उपयोग करते हुए मैंने खाली गुणगान नहीं किया बल्कि अपने निरीक्षण एवं दृष्टिकोण से काम लिया।

गलत या सही, मुझे लगता है कि विदेशी दूतावासों या एजेन्सियों द्वारा हम लोगों (पत्रकारों) की जो पूछताछ और आवभगत होती है वह बहुत कुछ मायावी है। लम्बी ब्रिटिश दासता के कारण हमारे अन्दर श्वेत-श्रेष्ठता और उनके मुकाबले अपना सब कुछ हीन होने की जो भावना प्रच्छन्न रूप से घर कर गयी है, उसको हम चाहे स्वीकार न करें, विदेशी उसे जाने बिना नहीं रहते। फलतः हमारी आवभगत करके और शराब तथा तोहफों द्वारा वे हमें प्रभावित करते हैं। इससे उनके देश का प्रचार ही नहीं होता, हमारे द्वारा उनके हर तौर-तरीके की श्रेष्ठता भी प्रतिपादित होती है।

मैं किसी देश या किसी सभ्यता का विरोधी नहीं, यह स्वीकार करने में भी किसी से पीछे नहीं कि सभी देशों और सभी सभ्यताओं में अच्छाइयाँ विद्यमान हैं; परन्तु इसी कारण मैं विदेश-भक्त या स्वदेश-विरोधी नहीं हो सकता।

हमारे यहाँ ऐसे लोगों की कमी नहीं जो किसी विचारधारा से प्रभावित हो उस विचार-धारा वाले देश के स्वदेश से अधिक भक्त हैं, देश की घटनाओं को भी उनकी दृष्टि से ही देखना उनके लिए स्वाभाविक है। ऐसे लोग भी हमारे यहाँ हैं जो सम्पर्कों और लेखन-कौशल से नामवरी हासिल करके जिस देश के लिए खबर या लेख लिखें उसी के दृष्टिकोण से उस वक्त काम लेते हैं। ऐसा करते हुए देश के हित की भी उनसे उपेक्षा हो जाय तो इसकी उन्हें चिन्ता नहीं होती। व्यावसायिक पत्रकारिता में इसमें अस्वाभाविकता कुछ नहीं, क्योंकि जिसमें अधिक पैसा मिले व्यवसाय में वही किया जाना आम बात है।

कुछ देशों के दूतावास तो स्थानीय लोगों को तरह-तरह से प्रभावित करने में सदा प्रयत्नशील रहते हैं, ऐसा आम खयाल है। एक देश की ओर से प्रायः सभी समाचार पत्रों में कई-कई पृष्ठ के विज्ञापन निकले थे, जिनके द्वारा कितना रुपया समाचार-पत्रों को अपने प्रचार के लिए दिया गया यह अनुमान की ही बात है।

कम्युनिस्ट चीन से एक समय हमारे 'भाई-भाई' के सम्बन्ध थे। अब तो सभी जान गये हैं कि वह केवल दिखावा था, अन्दर ही अन्दर हमारे भू-भाग पर नजर थी और इसके लिए यहाँ के लोकमत को भी अपने अनुकूल बनाने की हर कोशिश

थी। औद्योगिक प्रदर्शनी में मैंने देखा, चीनी मंडप में भाई-भाई के नाम पर हमारी नयी पीढ़ी के तरुण-तरुणियाँ ऐसे खाद्य और पेय पदार्थ खा-पी रहे थे जैसे आम तौर पर अपने घरों में खाना उनके लिए स्वाभाविक नहीं था।

चीन से मित्रता के कारण उनके यहाँ से आये लेख आदि भारतीय पत्र ज्यों-के-त्यों या विशेष संवाददाता द्वारा अपनाये रूप में अक्सर छापा करते थे। 'हिन्दुस्तान' में ऐसा एक लेख तिब्बत के सम्बन्ध में निकला, जिसमें हमारे यहाँ यह सावधानी बरती गयी थी कि 'तिब्बत की मुक्ति' की जगह ऐसा कुछ कर दिया गया था कि तिब्बत के आजाद होने या चीन के अन्तर्गत होने का आभास होता था। इस पर चीन के फर्स्ट सेक्रेटरी एक दिन एक दुभाषिये के साथ दफ्तर में मुझसे मिलने आये और उस पर आपत्ति करते हुए संपादक की ओर से संशोधन करके मूल रूप की ही पुष्टि करने को कहा। मैंने कहा, आप अपने दूतावास की तरफ से संशोधन भिजवा दें तो उस रूप में वह 'हिन्दुस्तान' में छप जायगा। पर वह ऐसा न कर संपादक से अपने आप ही ऐसा करने का आग्रह करते रहे और मैं भी नम्रता के साथ अपनी बात पर कायम रहा।

बरमा से आये एक पत्रप्रतिनिधि-मंडल के समय, हैदराबाद-हाउस में उनके सम्मान में हुए सरकारी भोज में बरमी राजदूत की नाराजगी और उस पर परराष्ट्र-मंत्रालय के एक प्रमुख अधिकारी के विनयपूर्ण व्यवहार से मैं राजनयिकों के साथ व्यवहार की शिक्षा ले चुका था। अतः चीनी फर्स्ट सेक्रेटरी के अत्यधिक क्रोध-प्रदर्शन के बावजूद अपनी बात पर दृढ़ रहते हुए भी मैं रहा पूरी तरह विनयपूर्ण ही। उनकी मुख्य दलील यह थी कि इससे चीन-भारत के भाई-भाई सम्बन्ध पर असर पड़ेगा, लेकिन मुझे उनके आग्रह और क्रोध में उपयुक्तता के बजाय धौंसपट्टी की ही गंध आयी। चीन से अच्छे सम्बन्धों की इच्छा में किसी से कम न होते हुए भी एक स्वाभिमानी और जिम्मेदार भारतीय पत्रकार के नाते मैं उनके आगे झुकने को तैयार नहीं हुआ। उनकी भावना को चोट न पहुँचे इसके लिए उसके बाद शिष्टाचार वश उनके यहाँ गया जरूर, पर उनका चाहा नहीं ही किया।

एक अन्य देश के दूतावास से भी मुझे कुछ इसी तरह निपटना पड़ा। उस देश के सम्बन्ध में एक लेख हमारे यहाँ निकला था। दूतावास की तरफ से एक सज्जन आये और कहा कि इसमें तथ्यों की गलतियाँ हैं और उनका संशोधन होना चाहिए। मैंने कहा, आप दूतावास की तरफ से संशोधन भिजवा देंगे तो हम बड़ी खुशी से छापेंगे। उन्होंने कुछ इस तरह कहा कि हिन्दुस्तान टाइम्स वालों और खासकर अमुक से तो हमारे अच्छे सम्बन्ध हैं, आपने ऐसा लेख कैसे छाप दिया? मैंने उस बात को टालते हुए उनके दूतावास से संशोधन की ही माँग की। वह कुछ ऐसा मानते मालूम पड़े कि 'हिन्दुस्तान

टाइम्स' के अमुक को खुश रखते हुए 'हिन्दुस्तान' को तदनुरूप ही करना चाहिए और सपादकीय रूप में संशोधन का आग्रह करते रहे, पर मेरी दृढ़ता पर आखिर अधिकृत रूप में संशोधन भिजवाने को कहा। फिर वह आया या नहीं, यह मुझे याद नहीं; पर अंग्रेजी के उन महाशय ने, जिनसे शायद उस दूतावास के सम्बन्ध थे, एक दिन मिलने पर मुझे उस लेख के छापने पर धमकी भरा-सा कुछ उलाहना जरूर दिया था।

घटनाएँ तो और भी न जाने कितनी हुईं, लेकिन नमूने के लिए यही काफी हैं। संपादकों को ऐसे अवसर आते ही रहते हैं और ऐसे ही वक्त उनकी दृढ़ता तथा निःस्वार्थ भावना की परीक्षा होती है! अपनी जानकारी में तो मैंने ऐसे अवसरों पर कमजोरी नहीं दिखायी, लेकिन दूसरों की नजर में भी मैं ऐसा ही रहा या नहीं यह तो दूसरे ही कह सकते हैं।

■

मुकुट बिहारी वर्मा

जन्म तिथि : 1904

जन्म स्थान : सिकन्दराबाद, आगरा, उत्तर प्रदेश

श्री मुकुट बिहारी वर्मा का असहयोग आन्दोलन के कारण 1920 में विधिवत शिक्षा का क्रम टूट गया और वे पत्रकारिता की ओर मुड़ गये। 1919-20 में प्रसिद्ध पत्र 'कर्मवीर' के सम्पर्क में आये, फिर 'राजस्थान केसरी' वर्धा, अर्द्ध साप्ताहिक 'प्रणवीर' नागपुर, 'माधुरी' लखनऊ तथा दैनिक 'आज' वाराणसी के सम्पादकीय विभाग में काम करते हुए गोरखपुर के प्रसिद्ध पत्र 'स्वदेश' में 1925-26 में पहुँचे। अजमेर की 'त्याग-भूमि' में कार्य करने के पश्चात् 1936 में श्री वर्मा 'दैनिक हिन्दुस्तान' के स्थानापन्न सम्पादक बने और 1945 तक उसी हैसियत से काम करते रहे। 1946 में सम्पादक हुए और 1963 तक निष्ठा के साथ काम करके अवकाश लिया। 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक के रूप में उन्होंने पत्रकारिता के उच्चतम प्रतिमानों की स्थापना की।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर लिखते रहने के अतिरिक्त उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखीं।

'पत्रकारिता के अनुभव' में मुकुट बिहारी जी ने अपने पत्रकार-जीवन के कटु-मधु अनुभवों का सुन्दर संग्रह किया है। निश्चित ही यह पुस्तक पत्रकारों की नयी पीढ़ी के लिए एक सुखद विचार-यात्रा सिद्ध होगी।